दंसणमूलो धम्मो

आत्मधर्म

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र

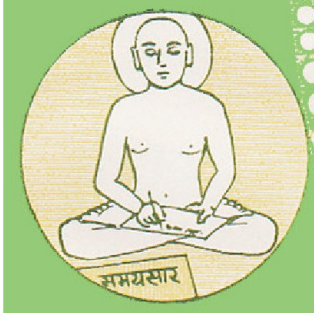

जहाँ रुचे वहाँ जा

एक तरफ आनंदधाम प्रभु अंदर में
विराजता है और दूसरी तरफ बाहर में
मृगजलवत् विषय हैं—स्व-हित का विचार
करके जहाँ रुचे वहाँ जा! —पूज्य स्वामीजी

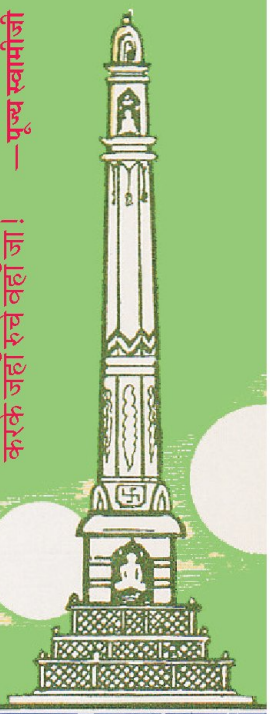

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

वर्ष ३४ : अंक ८ [४०४] फरवरी, १९७९

आत्मधर्म [४०४]

[हिन्दी, गुजराती, मराठी तथा कन्नड़ — इन चार भाषाओं में प्रकाशित
जैन समाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला आध्यात्मिक मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल
कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४
प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)
शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे
मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

क्या

१ हमकौं कछू भय ना रे....
२ जीवन ही बदल डाला
३ संपादकीय : क्रमबद्धपर्याय
४ यह है ज्ञानी संतों का आदेश
५ एक आत्मस्वभाव की ही रुचि कर
[नियमसार प्रवचन]
६ अप्रतिबुद्ध और प्रतिबुद्ध
[समयसार प्रवचन]
७ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
८ ज्ञान-गोष्ठी
९ समाचार दर्शन
१० अभिमत
११ प्रबंध संपादक की कलम से

पुरुषार्थ भी न उड़े और क्रम भी न टूटे

देखो, यह वस्तुस्थिति! पुरुषार्थ भी नहीं उड़ता और क्रम भी नहीं टूटता। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि का पुरुषार्थ होता है, और वैसी निर्मलदशायें होती जाती हैं; तथापि पर्याय की क्रमबद्धता नहीं टूटती।

— पूज्य स्वामीजी

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३४ [४०४] अंक : ८

हमकौं कछू भय ना रे, जान लियौ संसार॥
हमकौं कछू भय ना रे०॥
जो निगोद में सो ही मुझमें, सो ही मोख मंझार।
निश्चय भेद कछू भी नाहीं, भेद गिनै संसार॥
हमकौं कछू भय ना रे०॥१॥
परवश ह्वै आपा विसारि कै, राग-द्वेष कौं धार।
जीवन-मरत अनादि काल तें, यौं ही है उरझार॥
हमकौं कछू भय ना रे०॥२॥
जाकरि जैसैं जाहि समय में, जो होतब जा द्वार।
सो बनिहै टरिहै कछु नाहीं, करि लीनों निरधार॥
हमकौं कछू भय ना रे०॥३॥
अगनि जरावै पानी बोबै, बिछुरत मिलत अपार।
सो पुद्गलरूपी मैं 'बुधजन', सबकौं जाननहार॥
हमकौं कछू भय ना रे०॥४॥

जीवन ही बदल डाला

[इस स्तंभ में उन आत्मार्थियों के महत्त्वपूर्ण पत्र प्रकाशित किये जायेंगे, जिनके जीवन में आध्यात्मिक रुचि आत्मधर्म के माध्यम से जगी है।]

मैं सुख की खोज के लिये हमेशा चिंतित रहता था। एक बार इस विषय पर ब्रह्मचारी हेमराजजी से चर्चा हुई जिससे मुझे संतुष्टि मिली। मैं उनके पास प्रतिदिन जाने लगा, उन्होंने मुझे अनेक पुस्तकों का अध्ययन कराया तथा आत्मधर्म पत्रिका पढ़ने को दी। आत्मधर्म पढ़ने से मुझे अतीव आनंद की अनुभूति हुई।

जयपुर प्रशिक्षण शिविर में आया तो यहाँ पूज्य गुरुदेव के दर्शन पाकर धन्य हो गया। उनकी सहज एवं सरल वाणी को सुना। वे कहते हैं—''भाई! ऐसा अमूल्य मनुष्य जीवन प्राप्त कर भी तू उसे यूं ही खो देवे, सर्वज्ञदेव की पहिचान न करे, शास्त्र-स्वाध्याय न करे, तो अपनी आत्मा को भूलकर तू इस संसार में अनंतकाल तक भटकता रहेगा। अरे! महामूल्यवान यह मनुष्यभव और धर्म का ऐसा महायोग मिला है तो अब परमात्मा के समान जो तेरा स्वभाव है, उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर।''

अब जब-जब मैं आत्मधर्म पढ़ता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि गुरुदेव एवं संपादक महोदय मेरे समक्ष ही प्रवचन कर रहे हों। वास्तव में आत्मधर्म एक अलौकिक पत्रिका है, जिसने मेरे जीवन को ही बदल दिया है।

मैंने अपने लौकिक अध्ययन को बंद कर अध्यात्म में ही समय लगाने का निश्चय किया है। मुझे सदाकाल ऐसा समागम मिलता रहे जैसा कि सोनगढ़ में है, ऐसी भावना है।

— जिनेशचंद जैन, एम० कॉम०, मौ (म०प्र०)

सम्पादकीय

क्रमबद्धपर्याय | एक अनुशीलन

'क्रमबद्धपर्याय' आज दिगंबर जैन समाज का बहुचर्चित विषय है। चाहे पक्ष में हो या विपक्ष में—पर इसकी चर्चा आज तत्त्वप्रेमी समाज में सर्वत्र होती देखी जाती है। यद्यपि पूज्य श्री कानजीस्वामी ने इस विषय को बड़ी ही गंभीरता से प्रस्तुत कर अध्यात्म जगत में एक क्रांति का शंखनाद कर दिया है और यह महत्त्वपूर्ण विषय समाज में आज चर्चा का विषय भी बना हुआ है, तथापि इसकी गहराई में जानेवाले व्यक्ति कम ही नजर आते हैं। जैनदर्शन के इस अनुपम अनुसंधान पर जिस गहराई से मंथन किया जाना चाहिये, वह दिखायी नहीं देता।

इस महान दार्शनिक उपलब्धि को व्यर्थ के वाद-विवाद एवं सामाजिक, राजनीति का विषय बना लिया गया है। यह एक शुद्ध दार्शनिक विषय है। इसे वाद-विवाद एवं हंसी-मजाक का विषय न बनाकर इस पर विशुद्ध दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिये। जैनदर्शन से संबंधित होने से यहाँ इस विषय पर जैनागम के परिपेक्ष्य में संयुक्ति एवं सोदाहरण अनुशीलन अपेक्षित है।

'क्रमबद्धपर्याय' से आशय यह है कि इस परिणमनशील जगत की परिणमन-व्यवस्था 'क्रमनियमित' है। जगत में जो भी परिणमन निरंतर हो रहा है, वह सब एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित रूप से हो रहा है। स्थूलदृष्टि से देखने पर जो परिणमन अव्यवस्थित दिखायी देता है, गहराई से विचार करने पर उसमें भी एक सुव्यवस्थित व्यवस्था नजर आती है। जैसे कि नाटक के रंगमंच पर जो दृश्य व्यवस्थित दिखाये जाते हैं, वे तो पहले से निश्चित और पूर्व व्यवस्थित होते ही हैं; किंतु जो दृश्य अव्यवस्थित दिखाये जाते हैं, वे भी पूर्व नियोजित एवं पूर्ण व्यवस्थित होते हैं।

एकदम व्यवस्थित दिखाई जानेवाली किसी रईस की कोठी जिसप्रकार पूर्ण नियोजित एवं व्यवस्थित होती है; उसीप्रकार अव्यवस्थित दिखाई जानेवाली किसी गरीब की झोंपड़ी भी

अनियोजित और अव्यवस्थित नहीं होती, अपितु वह भी पूर्णतः नियोजित और व्यवस्थित ही होती है। उसकी टूटी खाट और फटे कपड़े दिखाने के लिये पहले से ही साबुत खाट तोड़नी एवं साबुत कपड़े फाड़ने पड़ते हैं। कहीं थाली पडी है और कहीं लोटा—यह बताने के लिये व्यवस्थितरूप से एक निश्चित स्थान पर थाली और दूसरे निश्चित स्थान पर लोटा रखे जाते हैं।

जिसप्रकार उक्त अव्यवस्थित दिखनेवाली व्यवस्था भी पूर्व निश्चित और व्यवस्थित होती है, ठीक उसीप्रकार संपूर्ण द्रव्यों का अव्यवस्थित-सा दिखनेवाला परिणमन भी पूर्ण निश्चित और व्यवस्थित होता है।

प्रत्येक द्रव्य की वह परिणमन-व्यवस्था व्यवस्थित ही नहीं, स्वाधीन भी है; किसी अन्य द्रव्य के आधीन नहीं। एक द्रव्य के परिणमन में दूसरे द्रव्य का कोई भी हस्तक्षेप नहीं है।

जैसा कि सर्वश्रेष्ठ दिगंबर आचार्य कुंदकुंद के प्रसिद्ध ग्रंथराज समयसार की गाथा ३०८ से ३११ तक की टीका में आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं:—

''जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः; एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः।''

प्रथम तो जीव क्रमनियमित (क्रमबद्ध) ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमनियमित (क्रमबद्ध) अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।

यहाँ समस्त जीवों और अजीवों के परिणमन को क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है। जीव और अजीव के अतिरिक्त जगत में और है ही क्या? जीव और अजीवद्रव्यों के समूह का नाश ही तो विश्व अर्थात् जगत है। इसप्रकार समस्त जगत का परिणमन ही क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है।

'क्रमनियमित' और 'क्रमबद्ध' शब्द एकार्थवाची ही हैं। जैसा कि जैनतत्त्व मीमांसा में स्पष्ट किया गया है :- ''प्रत्येक कार्य अपने स्वकाल में ही होता है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रमनियमित हैं। एक के बाद एक अपने-अपने स्वकाल में निश्चित उपादान के अनुसार होती रहती है। वहाँ पर 'क्रम' शब्द पर्यायों की क्रमाभिव्यक्ति को दिखलाने के लिये स्वीकार किया है और 'नियमित' शब्द प्रत्येक पर्याय का स्वकाल अपने-अपने निश्चय

उपादान के अनुसार नियमित है—यह दिखलाने के लिये दिया गया है। वर्तमान काल में जिस अर्थ को 'क्रमबद्धपर्याय' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, 'क्रमनियमित' का वही अर्थ है।''[१]

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ मात्र यह नहीं कहा गया है कि पर्यायें क्रम से होती हैं, अपितु यह भी कहा गया है कि वे नियमितक्रम में होती हैं। आशय यह है कि ''जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस निमित्त, व जिस पुरुषार्थपूर्वक, जैसी होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल में, उसी निमित्त व उसी पुरुषार्थपूर्वक, वैसी ही होती है; अन्यथा नहीं''-यह नियम है।

जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है :—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा॥३२१॥
तं तस्य तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा॥३२२॥
एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥३२३॥

जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से, वह अवश्य होता है। उसे इंद्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है ? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता है।

इसप्रकार निश्चय से जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है; और जो इसमें शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

जिनागम में अनेक स्थानों पर इसप्रकार का भाव व्यक्त किया गया है :—

प्रागेव यदवाप्तव्यं येन यत्र यथा यतः।
तत्परिप्राप्यतेऽवश्यं तेन तत्र तथा ततः॥[२]

जिसे, जहाँ, जिसकारण से, जिसप्रकार से, जो वस्तु प्राप्त होनी होती है; उसे, वहाँ,

१. जैनतत्त्व मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २६८
२. आचार्य रविसेण : पद्मपुराण, सर्ग ११०, श्लोक ४०

उसीकारण से, उसीप्रकार, वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है।

जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहिं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे॥
समयो एक बढै नहिं घटसी, जो सुख-दुख की पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन कूड़ो, होय वज्र ज्यों हीरा रे॥[१]
जा करि जैसैं जाहि समय में, जो होतब (भवितव्यता) जा द्वार।
सो बनिहै टरिहै कछु नाहीं, करि लीनौं निरधार॥
हमकौं कछु भय ना रे, जान लियो संसार॥टेक॥[२]

"सम्यग्दृष्टि के ऐसा विचार होय है—जो वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जान्या है, तैसा निरंतर परिणमै है; सो होय है। इष्ट-अनिष्ट मान दुखी-सुखी होना निष्फल है। ऐसे विचार तै दुख मिटै है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है।"[३]

उक्त प्रकरणों में प्राय: सर्वत्र ही सर्वज्ञ के ज्ञान को आधार मानकर भविष्य को निश्चित निरूपित किया गया है और उसके आधार पर अधीर नहीं होने का एवं निर्भय रहने का उपदेश दिया गया है। स्वामी कार्तिकेय ने तो ऐसी श्रद्धावाले को ही सम्यग्दृष्टि घोषित किया है और इसप्रकार नहीं माननेवाले को मिथ्यादृष्टि कहने में भी उन्हें किंचित् भी संकोच नहीं हुआ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि में सर्वज्ञता सबसे प्रबल हेतु है।

निष्पन्न पर्यायों की क्रमबद्धता स्वीकार करने में तो जगत को कोई बाधा नजर नहीं आती, किंतु जब अनिष्पन्न भावी पर्यायों को भी निश्चित कहा जाता है तो जगत चौंक उठता है। उसे लगता है कि यदि सब कुछ निश्चित ही है तो फिर हमारा यह करना-धरना सब बेकार है। कर्तृत्व के अभिमान की जिस दीवार को वह ठोस आधार मानकर खड़ा था, अकड़ रहा था; जब वह ढहती नजर आती है, तो एकदम बौखला जाता है। उसकी बौखलाहट यहाँ तक बढ़ती है कि जैसा सर्वज्ञ भगवान को और उनकी सर्वज्ञता को वह अभी तक हृदय से (बुद्धि से नहीं) स्वीकार कर रहा था—उसके प्रति भी शंकित हो उठता है, उसका भी विरोध करने लगता है।

१. भैया भगवतीदास : अध्यात्मपद संग्रह, पृष्ठ ८१
२. बुधजन : अध्यात्मपद संग्रह, पृष्ठ ७९
३. पंडित जयचंदजी छाबड़ा : मोक्षपाहुड़, गाथा ८६ का भावार्थ

चूँकि अभी तक सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार करता रहा है, अतः एकदम तो उससे मुकर नहीं पाता; अतः सर्वज्ञता की व्याख्यायें बदलने लगता है। कभी कहता है कि वे भूतकाल और वर्तमान को तो जानते हैं, पर भविष्य को नहीं; क्योंकि भूतकाल में तो जो कुछ होना था सो हो चुका और वर्तमान हो ही रहा है, अतः उन्हें जानने में तो कोई आपत्ति नहीं; पर भविष्य की घटनाएँ जब अभी घटित ही नहीं हुई तो उन्हें जानेंगे ही क्या? कभी कहता है कि भविष्य को जानते तो हैं, किंतु सशर्त जानते हैं। जैसे—जो पुण्य करेगा वह सुखी होगा, और जो पाप करेगा वह दुःखी होगा। जो पढ़ेगा वह पास होगा, और जो नहीं पढ़ेगा, वह पास नहीं होगा—आदि न जाने कितने रास्ते निकालता है।

पर उसका यह अथक प्रयास निष्फल ही रहता है, क्योंकि कोई रास्ता है ही नहीं तो निकलेगा कहाँ से? यह कैसे हो सकता है, कि वह सर्वज्ञ तो माने, पर भविष्यज्ञ नहीं। सर्वज्ञ का अर्थ त्रिकालज्ञ होता है। जो भविष्य को न जान सके वह कैसा सर्वज्ञ? सर्वज्ञ की व्याख्या तो ऐसी है कि सबको जाने सो सर्वज्ञ। कहा भी है:—

'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'[१]

केवलज्ञान का विषय तो समस्त द्रव्य और उनकी तीन काल संबंधी समस्त पर्यायें हैं।

जो कुछ हो चुका है, हो रहा है, और भविष्य में होनेवाला है; सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में तो वह वर्तमानवत् स्पष्ट झलकता है।

इसीप्रकार भविष्य का ज्ञान होना तो माने, पर भविष्य का निश्चित होना नहीं माने, यह कैसे संभव है? ऐसा तो सर्वसाधारण भी कह सकते हैं कि जो पढ़ेगा वह पास होगा। इसमें सर्वज्ञ ज्ञान की दिव्यता क्या रही?

आचार्य कुंदकुंद कहते हैं:—

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति॥[२]

यदि अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूत की) पर्याय सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा?

---

१. आचार्य उमास्वामी: तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २९; २. प्रवचनसार, गाथा ३९

आचार्य अमृतचंद्र ने सर्वज्ञ द्वारा समस्त ज्ञेयों को एक क्षण में संपूर्ण गुण और पर्यायों सहित अत्यंत स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष जानने की चर्चा इसप्रकार की है:—

''अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णलिखितनिखात-कीलितमज्जितसमावर्तित-प्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्याय-प्राग्भारमगाधस्वभावं गंभीरं समस्तमपि द्रव्यजात केक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं..... ।''

एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्तमान, अनंत, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाधस्वभाव और गंभीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को—मानों वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, विचित्र हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों, इसप्रकार—एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है.... ।''[१]

सर्वज्ञता की सिद्धि आचार्य समंतभद्र ने आप्तमीमांसा में, आचार्य अकलंकदेव ने उसकी टीका अष्टशती में, एवं आचार्य विद्यानंदि ने अष्टसहस्री में विस्तार से की है। एक प्रकार से संपूर्ण न्यायशास्त्र ही सर्वज्ञता की सिद्धि में समर्पित है। फिर भी जब न्याय-विषयक अनेक उपाधियों से विभूषित विद्वद्वर्ग सर्वज्ञता में भी आशंकाएँ व्यक्त करने लगता है या उनकी नई-नई व्याख्यायें प्रस्तुत करने लगता है, तो आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।

सर्वज्ञ भगवान का भविष्य संबंधी ज्ञान 'पढ़ेगा तो पास होगा' के रूप में अनिश्चयात्मक न होकर 'यह पढ़ेगा और अवश्य पास होगा' अथवा 'नहीं पढ़ेगा और पास भी नहीं होगा' के रूप में निश्चयात्मक होता है। भविष्य को निश्चित मानने में अज्ञानी को वस्तु की स्वतंत्रता खंडित होती प्रतीत होती है। पर उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि भविष्य को अनिश्चित मानने पर ज्योतिष आदि निमित्तज्ञान काल्पनिक सिद्ध होंगे, जबकि सूर्यग्रहण आदि की घोषणाएँ वर्षों पहले कर दी जाती हैं और वे सत्य निकलती हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी अपनी सीमा में भविष्य को जानते ही हैं। लाखों वर्षों आगे के भविष्य की निश्चित घोषणाओं से सर्वज्ञ कथित जिनागम भरा पड़ा है और वे समस्त घोषणाएँ 'ऐसा ही होगा' की भाषा में हैं। सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से इंकार करने का अर्थ समस्त जिनागम को तिलांजलि देना होगा।

---

१. प्रवचनसार, गाथा २०० की तत्त्वप्रदीपिका टीका

यदि 'क्रमबद्धपर्याय' की बात पहले हमारे ध्यान में नहीं आयी और वह इस युग में एक ऐसे व्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत हुई जिसे हम किसी कारणवश पसंद नहीं करते हैं तो इसका मतलब यह तो नहीं होना चाहिये कि हम सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से भी इन्कार कर अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी मार लें। इस आत्मघाती कदम उठाने के पूर्व चिंतक वर्ग से एक बार पुनर्विचार कर लेने का सानुरोध आग्रह है। [क्रमशः]

गाँव-गाँव में वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ खोलिये।

बीस वर्ष पहले

[इस स्तंभ में आज से बीस वर्ष पहले आत्मधर्म (हिंदी) मे प्रकाशित महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रकाशित किया जाता है।]

यह है ज्ञानी संतों का आदेश

हे जीव! मैं ज्ञायक हूँ—ऐसा निर्णय करके अंतर में उसकी खोजकर और जब तक ज्ञायकस्वभाव का पता न चले तब तक अंतर में सच्ची लगनपूर्वक उसी का प्रयत्न कर।

चैतन्यनिधि अमृत का सागर यहाँ तेरे पास ही भरा पड़ा है, उपयोग को अंतर्मुख करे इतनी ही देर है; उपयोग को अंतरोन्मुख करते ही तुझे अपने आत्मा में ऐसे आनंद का अनुभव होगा जो पहले कभी न हुआ हो।

सब कुछ तुझमें विद्यमान है; कहीं बाहर ढूँढ़ने के लिये नहीं जाना है।

''मेरा किसी से कोई संबंध नहीं है; मैं तो ज्ञायक हूँ, मेरे ज्ञायकपने में राग का भी अभाव है।''—इसप्रकार सबके साथ संबंध तोड़कर अंतर में एक ज्ञायक के साथ ही संबंध जोड़ना चाहिये। ''ज्ञायक ही मैं हूँ''—इसप्रकार अंतर में शांतिपूर्वक एकाग्र होकर ज्ञायक का अनुभव करना चाहिये। उस अनुभव में आनंदस्वरूप परमात्मतत्त्व प्रगट होता है।

—पूज्य स्वामीजी

—आत्मधर्म, वर्ष १५, अंक १७८, फरवरी १९६०, पृष्ठ ४५८

एक आत्मस्वभाव की ही रुचि कर

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा॥३९॥

जीव को वास्तव में स्वभावस्थान [विभावस्वभाव के स्थान] नहीं हैं, मानापमानभाव के स्थान नहीं हैं, हर्षभाव के स्थान नहीं हैं अथवा अहर्ष के स्थान नहीं हैं।

द्रव्यदृष्टि से निरूपाधिरूप शुद्धजीव में विभावस्थान नहीं है। यह अभेद निर्विकल्पतत्त्व के स्वरूप का कथन है। त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को वास्तव में विभावस्वभाव स्थान नहीं है (विभावरूप स्वभाव के स्थान नहीं है)।

शुद्धजीव का स्वरूप बतलाते हैं। शुद्धजीव कहो, निरुपाधिस्वभाव कहो, परमपारिणामिकभाव कहो, कारणपरमात्मा कहो, द्रव्यस्वभाव कहो, शुद्धचैतन्य ध्रुवस्वभाव कहो—यह सब एक ही अर्थ के वाचक हैं। जीव के शुद्धस्वरूप में राग-द्वेषादि की उपाधि नहीं है, वह तीनों काल निरुपाधिस्वभाव वाला है।

जीवास्तिकाय का अर्थ है असंख्यप्रदेशी कायवान जीव नामक पदार्थ। ऐसे असंख्यप्रदेशी जीव अनंत हैं। निगोद से लेकर सिद्धपर्यंत प्रत्येक जीव एकरूप शुद्ध है, उस शुद्धजीव के वास्तव में विभाव नहीं है। आत्मा का लक्ष चूककर पर्याय में विभाव होता अवश्य है, फिर भी 'विभाव पर्याय में बिल्कुल होता ही नहीं अथवा कर्म के कारण विभाव होता है' ऐसा कोई माने तो वह बात खोटी है। जीव अपने अपराध से अपनी पर्याय में विभाव करता है।

यहाँ विभाव को स्वभाव कहने का कारण यह है कि जीव स्वतंत्ररूप से पर्याय में विभाव करता है; उस समय की पर्याय का वह स्वभाव है—ऐसा बतलाने के लिये उसे स्वभाव कहा है। यदि शुद्धस्वभावदृष्टि से देखा जावे तो शुद्धस्वभाव में विभाव का अभाव है। शुद्धस्वभाव में विभाव प्रविष्ट हो तो त्रिकाली स्वभाव ही विभावरूप हो जाये और शुद्ध होने का कभी अवसर ही प्राप्त न हो। विभाव व्यवहार है, उसे गौण करके अभूतार्थ कहकर स्वभाव में

उसका अभाव बतलाकर स्वभाव का आदर करने के लिये कहा गया है।

वस्तुस्वभाव के नियम परिवर्तित नहीं होते, अतः तू अपनी बुद्धि में ही परिवर्तन कर, पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभावबुद्धि कर।

अज्ञानीजीव निमित्तों को, संयोगों को तथा राग को फेरना चाहता है, किंतु तू फेरेगा किसे? किसी के प्रवाह को रोकने की शक्ति तुझमें है ही नहीं। जिस समय जो निमित्त आनेवाला है, वह अपने स्वकाल में आवेगा ही। पुण्य के काल में पुण्य का भाव, पाप के काल में पाप का भाव, पर्याय के काल में पर्याय—इसप्रकार प्रवाह क्रम चलता रहता है, उसमें कोई जीव फेरफार नहीं कर सकता। निमित्त इत्यादि तो पर हैं, और जिस समय जो राग उत्पन्न हुआ उसका उसी समय में व्यय कर सकते नहीं; अतः उसे फेरने की जो तेरी दृष्टि है-वह अज्ञानभाव है। तू तो अपनी दृष्टि को ही बदल, क्योंकि वस्तुस्वभाव के नियम को तू बदल ही नहीं सकता। निमित्त, संयोग, कर्म, विकार अथवा क्षायोपशमिक पर्याय के ऊपर की रुचि छोड़ और एकरूप अभेद शुद्धस्वभाव की रुचि कर, क्योंकि वही एक आदरणीय है। संसारदशा में विभाव होता है, उसको व्यवहारनय जानता भी है, किंतु वह आदरणीय नहीं है। शुद्धस्वभाव विभावरहित है ऐसा निश्चयनय जानता है। इसप्रकार अपने शुद्धस्वभाव को यथार्थ जाने तो व्यवहार का ज्ञान सच्चा किया कहा जाये अन्यथा व्यवहार का ज्ञान भी सच्चा नहीं। निश्चयनय आदरणीय है तथा व्यवहारनय जाननेयोग्य है। वर्तमान पर्याय में विभाव है ऐसा ज्ञान करके, शुद्धस्वभाव में विभाव नहीं है ऐसा निश्चय करके, राग का लक्ष छोड़कर स्वभाव की ओर झुकाव करना वही सम्यग्दर्शन का कारण है।

शुद्धजीव में प्रशस्त अथवा अप्रशस्त—समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव है।

''शुद्ध जीवास्तिकाय के प्रशस्त अथवा अप्रशस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं।''

चैतन्यस्वभाव एकरूप शुद्ध है, उसमें भले-बुरे राग-द्वेष का अभाव है। देव-शास्त्र-गुरु के प्रति मोह तथा राग वह प्रशस्त है, और देव-गुरु के प्रति कोई विरोधभाव करता हो उसके प्रति द्वेष हो वह प्रशस्त द्वेष है। स्त्री, कुटुंब, दुकान के प्रति मोह तथा राग अप्रशस्त है और स्त्री, कुटुंब से प्रतिकूल जीवों के प्रति द्वेष वह अप्रशस्त द्वेष है। संसारी जीव की पर्याय में एकसमय जितना मोह-राग-द्वेष का परिणाम है, किंतु स्वभावदृष्टि से देखा जाये तो

शुद्धस्वभाव में उनका अभाव है। जिस भाव से तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति बँधती है, उस भाव का भी शुद्धस्वभाव में अभाव है। स्वभाव में मोह-राग-द्वेष का अभाव है, इसलिये मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं। जिससमय मान-अपमान की पर्याय है, उसीसमय त्रिकाली शुद्धस्वभाव मान-अपमान रहित पड़ा हुआ है। अतः अंतर्मुख रुचि करके अपने शुद्धात्मा की दृढ़ता ऐसी कर कि जिससे दूसरी वस्तु का तुझे अभिमान न हो। यहाँ पुण्य-पाप का अभिमान छोड़कर स्वभाव की रुचि कराते हैं।

त्रिकालीस्वभाव का ज्ञान करे तो पर्याय का ज्ञान सच्चा है और तभी ज्ञान प्रमाण होता है।

ज्ञान जैसे को तैसा जानता है। मिथ्याज्ञान में शांति नहीं है। कर्म, कर्म में और निमित्त, निमित्त में है। चारित्र की पर्याय में दोष एकसमय जितना है, किंतु त्रिकालीस्वभाव में दोष नहीं है। त्रिकालीस्वभाव सामान्य और पर्याय विशेष है। सामान्यस्वभाव राग-द्वेष रहित है ऐसा ज्ञान करे तो विशेष का अर्थात् पर्याय का ज्ञान यथार्थ है और तभी ज्ञान प्रमाण होता है। त्रिकालीस्वभाव के ज्ञान बिना अकेली पर्याय का ज्ञान सच्चा नहीं है अर्थात् उसका एक भी ज्ञान सच्चा नहीं है। समय-समय में रुचि का परिणमन होता रहता है; उस रुचि को यदि यथार्थ बनाना हो तो त्रिकाली शुद्धस्वभाव की रुचि कर। त्रिकाली शुद्धस्वभाव की रुचि और ज्ञान करने पर पर्याय का ज्ञान सच्चा होता है।

शुद्धजीव में शुभपरिणति, शुभकर्म और हर्ष के स्थानों का अभाव है।

शुद्धजीवास्तिकाय के शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म नहीं है, शुभकर्म का अभाव होने से संसार-सुख नहीं है और संसार-सुख का अभाव होने से हर्ष-स्थान नहीं है।

दया, दान, भक्ति, पूजा, स्वाध्याय, पंचमहाव्रतादि का भाव वह शुभपरिणति है। जीव की एकसमय की पर्याय में वह शुभपरिणति होती है। यदि स्वभावदृष्टि से देखा जाए तो शुद्धजीव के शुभपरिणति का अभाव है। शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म का भी जीव में अभाव है। जीव में तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति का अभाव है कारण कि जिस परिणति से वह कर्म बँधता है, उस परिणति का जीव में अभाव है। भक्ति और भक्ति में निमित्त जो भगवान उनका भी जीव में अभाव है। पूर्व में शुभभाव किया था, उसके फल में पुण्य-बंध हुआ, तद्नुसार सामग्री उपलब्ध हुई और उससे जीव हर्ष की कल्पना करता है-ऐसा कोई कहे तो वह पर्याय का परिणाम है, उस परिणाम के साथ कर्म और सामग्री का निमित्तरूप से संबंध है तथा हर्ष की

कल्पना भी पर्याय में करता है। शुद्धजीव में तो शुभपरिणति नहीं, कर्म भी नहीं, संसार-सुख नहीं तथा हर्ष की कल्पना भी नहीं। शुद्धस्वभाव तो इन सभी से रहित है।

धर्मीजीव के अनुकूल संयोग और हर्ष के परिणाम होने पर भी रुचि शुद्धस्वभाव के ऊपर है।

धर्मीजीव मकान के वास्तु-प्रसंग (गृह-प्रवेश), पुत्र के लग्नोत्सव अथवा अर्थोपार्जन हो रहा हो उस समय भी हर्ष के अभावस्वरूप स्वभाव का साधन तो कर ही रहा है। कोई पूछे कि पचास लाख रुपया मिला इसलिये हर्ष हुआ? पूर्व में कर्म बाँधा था अतः पुत्र-प्राप्ति हुई कि नहीं? तो कहते हैं भाई! हर्ष के परिणाम मात्र एकसमय की अवस्था में हैं और पर के कारण नहीं, किंतु अपने ही कारण हैं और उन परिणामों का त्रिकालीस्वभाव में अभाव वर्तता है। धर्मीजीव के हर्ष के परिणाम होने पर भी क्षण-क्षण में शुद्धस्वभाव का साधन तो हो ही रहा है। हर्ष की पर्यायबुद्धि धर्मीजीव के नहीं होती। दुकान का मुहूर्त किया हो और घर पर मिष्ठान्न बन रहे हों तथापि दृष्टि जड़पदार्थ के ऊपर अथवा हर्ष के भाव के ऊपर नहीं है। शुद्धस्वभाव पर ही रुचि है और वही धर्म है।

मिथ्यादृष्टि जीव के पर की तथा हर्षादि विकार की रुचि होने से 'स्वधर्मत्याग' वर्तता है।

अज्ञानी जीव तो परपदार्थ को अपना मानकर हर्षित हो जाता है और हर्ष जितना ही आत्मा को मानकर मिथ्यात्व का सेवन करता है। अज्ञानी जीव सामायिक में हो, 'तावकायंठाणेणं' इत्यादि सामायिक के पाठ के शब्द बोलता हो, दुकान से निवृत्ति ली हुई दिखायी देती हो; परंतु यह शब्द मैं बोल सकता हूँ, शरीर को स्थिर रख सकता हूँ, तथा शब्द बोले गये, शरीर स्थिर रहा, और किंचित् कषाय मंद हुई इसलिये धर्म हो गया, सामायिक हो गयी; इसप्रकार पर्यायबुद्धि करते हुए उसे शुद्धस्वभाव की रुचि नहीं है; अतः वह मिथ्यात्व का ही सेवन करता है, उसको धर्म नहीं होता। शुद्धस्वभाव की रुचि नहीं है इसलिये स्वभाव का अनादर वर्त रहा है और साथ ही पुण्य-पाप, हर्ष-शोक का आदर भी वर्तता है। अतः उसके स्वधर्म का त्याग है अर्थात् स्वभाव का त्याग वर्तता है।

धर्मीजीव को शुद्धस्वभाव की रुचि होने से मिथ्यात्वादि अधर्म का त्याग वर्तता है।

यहाँ पर्यायबुद्धि छुड़ाकर स्वभावबुद्धि कराना है। बाहर के पदार्थ तो जैसे हैं, वैसे ही हैं, उन्हें कुछ फेरना नहीं है। रुचि किस ओर झुककर कार्य करती है, उसी के ऊपर धर्म-अधर्म

का आधार है। रुचि पर की ओर अथवा राग की ओर होना अधर्म का कारण है। उस तरफ की रुचि पलटे कि 'मैं निमित्त का, संयोग का अथवा पर का कुछ भी करने में समर्थ नहीं हूँ, एकसमय का हर्ष का परिणाम मेरे त्रिकालीस्वभाव में नहीं है, मैं तो ज्ञानस्वभावी शुद्धजीव हूँ'—इसप्रकार धर्मीजीव को शुद्धस्वभाव का आदर वर्तता है, इसलिये उसको मिथ्यात्व और पुण्य-पाप के अधर्म का त्याग वर्तता है।

शुद्धजीव को जाननेवाला जीव ही परपदार्थ तथा नवतत्त्वों को यथार्थ जानता है, अज्ञानी तो पर को भी यथार्थ नहीं जानता।

अज्ञानी जीव कहता है कि ''मैं इन परपदार्थों को तथा हर्ष के परिणामादि को जानता हूँ, किंतु आत्मा को नहीं जानता'' तो वह पर को भी यथार्थ नहीं जानता। स्वयं को जाने बिना पर को तथा अपने परिणाम को यथार्थ नहीं जान सकता। स्वयं जाननेवाला है ऐसा निर्णय किये बिना 'मैं दयापालक हूँ, शुभभाव का कर्ता हूँ' ऐसे परिणाम का ज्ञान भी खोटा है। परपदार्थ पर में हैं, हर्ष-शोक के परिणाम पर्याय में हैं, तथापि वे मेरा स्वरूप नहीं हैं; उसीप्रकार पर के कारण अथवा हर्ष के कारण मेरा ज्ञान नहीं है, मेरा ज्ञानस्वभाव ही स्वपरप्रकाशक स्वतंत्र है। दया-दानादि अथवा हर्ष-शोक जितना मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञातादृष्टा हूँ; इसप्रकार स्वभाव का निर्णय करके स्व की ओर ढलने पर जो सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है, उसमें स्व को जानते हुए पर भी जानने में आ जाता है। पर्याय में जो हर्ष-शोक के परिणाम होते हैं, उन्हें भी जान लेता है। इसप्रकार धर्मीजीव को शुद्धजीवतत्त्व का यथार्थ ज्ञान होने से शेष आठ तत्त्वों का भी यथार्थ परिज्ञान हो जाता है।

अनेक प्रकार से व्यवहार के कथन शास्त्र में आते हैं, परंतु स्व-आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करने पर समस्त व्यवहारधर्म का ज्ञान हो जाता है।

अज्ञानी जीव दलील करते हैं कि शास्त्र में अनेक प्रकार से व्यवहारधर्म का व्याख्यान आता है, ऐसी दशा में हम किस धर्म को स्वीकार करें? और ब्रह्मचर्य की बात आती है वहाँ ब्रह्मचर्य के समान अन्य धर्म नहीं—ऐसा लिखते हैं। दया की जहाँ बात आती है तो दया ही धर्म है-ऐसा कहते हैं। तप का प्रसंग आने पर उसी की विशेषता बतायी जाती है और कहा जाता है कि तपश्चरण ही धर्म है—अतः उपवास, उपधानादि करो। स्वाध्याय का कथन आने पर उसी

को परमतप और विनय की चर्चा आने पर कहा जाता है कि विनय जैसा दूसरा कोई मार्ग नहीं—अतः विनय करो। भक्ति, यात्रा आदि की बात आवे तो भक्ति, यात्रा ही करो, यही धर्म है। इसप्रकार अनेक प्रकार से धार्मिक अनुष्ठानों की कथनी में हम किसे अंगीकार करें? एक धर्म कहा जाये तो उसे करें भी।

इसप्रकार अज्ञानी जीव व्यवहार की कथनी को अनसमझे दलील करता है। उससे कहते हैं कि हे भाई! यह समस्त कथन व्यवहार के हैं और इनका अभिप्राय विविध प्रकार के शुभभावों का ज्ञान कराना है। **शुभभाव से रहित शुद्धचैतन्यस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान कर। उसके खूँटे में अपनी पर्याय को बाँधेगा तो धर्म की दशा प्रकट होगी।** यों तो शास्त्रों में शुभव्यवहारधर्म के अनेक प्रकार से कथन आते हैं, वे सब ज्ञान करने के लिये हैं; किंतु शुभभाव या व्यवहार आदर करने के लिये नहीं है। आदरणीय तो मात्र एक शुद्धस्वभाव ही है।

शुद्धस्वभाव में अशुभपरिणति, अशुभकर्म और अहर्षस्थान का अभाव है।

पुनः शुद्धजीवास्तिकाय के अशुभपरिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं है, अशुभकर्म का अभाव होने से दुःख नहीं है और दुःख का अभाव होने से अहर्षस्थान नहीं है।

जीव अपने स्वभाव को चूककर काम, क्रोध, शोकादि के भाव पर्याय में करता है; किंतु शुद्धात्मा में तो उनका अभाव है, इसीकारण अशुभकर्म का भी अभाव है। अशुभकर्म नहीं होने से उसकी तरफ का दिलगीरी का (दुःख का) भाव भी नहीं है। यद्यपि पर्याय में दिलगीरी का (दुःख का) भाव होता है तथापि उसी समय शुद्धस्वभाव में दिलगीरी का स्थान नहीं है। दुःख पर्याय में कहीं कर्म के कारण नहीं है; किंतु अपने अपराध के ही कारण है। इसप्रकार निर्णय करने के पश्चात् वे सभी भाव शुद्धस्वभाव में नहीं हैं—ऐसा कहकर पर्यायदृष्टि छुड़ाई है और द्रव्यदृष्टि करायी है।

अब ३९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:—

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्बिंबाकृतावात्मनि।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषे प्रेक्षावतां गोचरे
बुद्धिं किं न करोषि वाञ्छसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःकृतेः ॥५५॥

जो प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वत्पद है, जो सर्वथा अंतर्मुख और प्रकट प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ नभमंडल समान अकृत है, चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है, जो विचारवंत चतुर पुरुषों को गोचर है—ऐसे आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता और दुष्कृतरूप संसार के सुख की वांछा क्यों करता है ?

शुद्ध आत्मा शाश्वत् है, सर्वथा अंतर्मुख है, प्रकट प्रकाशमान है, चैतन्यामृत से भरपूर है।

जिसे आत्मा में धर्म प्रकट करना हो, उसे आत्मा कैसा है-यह जानना चाहिये।

(१) आत्मा प्रीति-अप्रीति रहित त्रिकाल टिकनेवाला शुद्धपदार्थ है।

(२) आत्मा सर्वथा अंतर्मुख है अर्थात् किन्हीं पुण्य-पाप के भावों से अथवा पर्याय के आश्रय से ज्ञात हो—ऐसा नहीं है। चैतन्य शुद्धस्वभाव संपूर्ण को रुचि में लेने से ही वह ज्ञात होता है।

'सर्वथा अंतर्मुख' कहा—उसका अर्थ यह है कि पर्याय में पुण्य-पाप होने पर भी उनसे वह जानने में नहीं आता, किंतु स्वभाव सन्मुख झुकने से ही जानने में आवे—ऐसा है; इसप्रकार अनेकांत है। पुनः प्रकट प्रकाशमान ऐसे आनंद से परिपूर्ण है। गाथा में 'प्रकट' और 'बना हुआ' यह दो शब्द प्रयोग किये गये हैं अर्थात् जो नया भाव प्रकट होता है, उसकी बात यहाँ न समझना; किंतु त्रिकाली शुद्धस्वभाव ऐसे का ऐसा अर्थात् ज्यों का त्यों प्रकाशमान है, उसे समझना।

कोई प्रश्न कर सकता है कि साधक जीव को सर्वथा अंतर्मुख क्यों कहा ? सर्वथा अंतर्मुख तो केवलज्ञान प्रकट होने पर ही हो सकता है ?

समाधान :- साधक जीव को अनेकांत का ज्ञान वर्तता है। पर्याय में राग-द्वेष का बाधकपन वर्तता है, निमित्तरूप में कर्म हैं और आंशिक शुद्धता भी साथ में ही वर्त रही है। यद्यपि चारित्र अपेक्षा से आंशिक बहिर्मुखता है तथापि दृष्टि अपेक्षा से तो बहिर्मुखता किंचित् भी नहीं है। अल्पराग के समय भी सर्वथा अंतर्मुखता का नगाड़ा बज रहा है, उसी के गीत गाता है, अल्पबहिर्मुखता गौण हो जाती है। सर्वथा अंतर्मुख शुद्धस्वभाव के गीत सुनकर जो हाँ करेगा, स्वीकार करेगा, वह मुक्ति के समीप आयेगा। श्री सर्वज्ञ के मुख से निर्गत वाणी में गणधरदेव द्वादशांग एवं चतुर्दशपूर्व की रचना करते हैं उसमें, तथा मुनिगण शास्त्र लिखते हैं उनमें, यह भनकार है, अन्य तो कुछ नहीं।

(३) पुनः शुद्ध आत्मा कैसा है? जैसे आकाश को किसी ने बनाया नहीं, वैसे ही आत्मा को भी किसी ने नहीं बनाया। आत्मा अंतर्मुख प्रकट अतीन्द्रिय सुख का पिंड है, स्वयंसिद्ध शाश्वत् है। आकाश क्षेत्र अपेक्षा से और ज्ञानभाव की अपेक्षा से व्यापक है। अपने संपूर्ण चैतन्य में व्याप्त है, उसी में रहकर सर्व पदार्थों को जानता है।

अनादि का है इसलिये पुराना हो गया हो - ऐसा नहीं है, अपितु वैसे का वैसा ही ताजा है। नया नहीं है, उसी भाँति पुराना भी नहीं होता।

(४) आत्मा में चैतन्य अमृत भरा पड़ा है। बाहर का शरीर उसका शरीर नहीं, पुण्य-पाप का भाव उसका शरीर नहीं, तथा एकसमय की पर्याय जितना भी वह नहीं; वह तो त्रिकाल चैतन्य पूर से भरा-पूरा है। ऐसा उसका स्वरूप है—अर्थात् वह ज्ञानशरीरी है, चाहे जितनी ज्ञानपर्यायें प्रकट हों तो भी उसमें कमी नहीं होती।

(५) जो विचारवंत चतुर पुरुषों को गोचर है। चाहे जिस काल में, चाहे जिस क्षेत्र में हो तथापि शुद्धस्वभाव तो ज्यों का त्यों पड़ा है, अतः वही एक शरण लेने योग्य है। पुण्य-पाप अथवा अधूरी पर्याय शरण लेने योग्य नहीं है। अतः जो विचार करता है और शुद्धस्वभाव का निर्णय करता है, उस सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धस्वभाव जानने में आता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि शुद्धस्वभाव तो केवलज्ञान के आश्रय से भी जानने में नहीं आता ऐसा पहले कहा था और यहाँ सम्यग्दृष्टि को गोचर है ऐसा कहा—सो क्यों?

समाधानः—दोनों में विवक्षा का अंतर है। पहले अगोचर कहा था वहाँ कहने का आशय यह था कि उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव पर्यायें हैं, समय-समय पलटती हैं, पर्याय के आश्रय से आत्मा का अनुभव होकर आगे नहीं बढ़ सकते, पर्याय में से पर्याय आती नहीं, किंतु परमपारिणामिकभाव के आश्रय से ही निर्मलता प्रकट होती है और आगे बढ़ते हैं; अतः पर्याय के ऊपर से लक्ष्य छुड़ाने के लिये और शुद्धस्वभाव का लक्ष्य कराने के लिये उन भावों से अगम्य-अगोचर कहा था, क्योंकि वे सभी भाव पर्यायें हैं। यहाँ विचारशील, चतुर पुरुषों ने परमपारिणामिकभाव का आश्रय लिया है और भेद का आश्रय छोड़ा है; अतः जो जीव अभेद का आश्रय लेंगे उन्हें अवश्य ही आत्मा का अनुभव होगा। इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को शुद्ध आत्मा अगोचर है—ऐसा कहा।

मुनिराज करुणा करके कहते हैं कि शुद्धस्वभाव की रुचि कर और पर्यायबुद्धि छोड़।

यहाँ मुनिराज करुणा करके कहते हैं कि ऐसा अनादि-अनंत एकरूप शुद्ध आत्मा पड़ा है, उसकी रुचि क्यों नहीं करता तथा पुण्य से धर्म होता है, निमित्त से कार्य होता है—ऐसी पर्यायबुद्धि की इच्छा क्यों करता है? व्यवहाररत्नत्रय का परिणाम भी दुष्कृतरूप संसार है इसलिये किसी भी शुभभाव की वांछा तू क्यों करता है? अभिप्राय यह है कि निमित्त की, विकार की, पर्याय की रुचि छोड़ और त्रिकाली शुद्धस्वभाव की रुचिकर—इसप्रकार मुनिराज करुणाबुद्धिपूर्वक कहते हैं।

शुद्धस्वभाव की बात प्रकट प्रकाशित होने पर भी जो उसकी रुचि नहीं करता और क्रियाकांड की रुचि करता है, उसके जूनागढ़ के राजा की तरह दिन फिर गये हैं।

जूनागढ़ का एक राजा था। उसको एक चारण युवती तिलक करने आती है। तब राजा उसके रूप पर मोहित हो जाता है। वह कहती है कि मैं भले ही आपकी नौकरी करती हूँ किंतु हूँ मैं पतिव्रता और राजा की भी इच्छा नहीं करती। चारण युवती विचारती है कि "राजा अपनी रानी को छोड़कर मुझ पर मोहित हो गया है और तिलक लगाने पर मुँह फेर लेता है, अवश्य ही राजा के दिन फिरे लगते हैं।"

उसीप्रकार शुद्धचैतन्यस्वभाव के गाने प्रकटरूप से बाहर आये हैं अर्थात् स्पष्ट और विस्तृत प्रसार-प्रचार में आये हैं। आचार्य भगवान कहते हैं कि तू अपने शुद्धस्वभाव की रुचि कर, निमित्त और पुण्य की रुचि छोड़। यह बात अनेक प्रकार के न्याय और युक्ति से प्रचार में आयी है। अरे! अपने चैतन्य के स्वराज्य में सिद्धपद को देखने का, हृदय में बैठाने का समय आया है, तब जगतजन सिद्धपदरूपी लक्ष्मी का नकार करके भरपेट विरोध करते हैं और कहते हैं कि यह धर्म का स्वरूप नहीं है—ऐसी मान्यता से तो जड़वाद का प्रचार हो जायेगा, व्यवहार का उत्थापन हो जायेगा, निमित्त और क्रियाकांड उड़ जायेगा; इसप्रकार चतुर्दिक विरोध करके अपने शुद्धस्वभाव का नकार करते हैं; उन जीवों के जूनागढ़ के राजा की भाँति दिन फिरे हुए हैं, इसलिये उनका संसार चालू है।

मुनिराज करुणा से कहते हैं कि भाई! ऐसे शुद्धस्वभाव की रुचि कर तो धर्मदशा प्रकट होकर केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी का तू पति होगा। ✱

अप्रतिबुद्ध और प्रतिबुद्ध

परमपूज्य आचार्य कुंदकुंद के सर्वोत्तम ग्रंथराज समयसार की १९वीं गाथा और उसकी टीका में समागत २१वें कलश पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इस प्रकार है—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥१९॥

जब तक इस आत्मा की कर्म और नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और मुझमें 'यह कर्म-नोकर्म हैं'—ऐसी बुद्धि है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है।

शिष्य ने प्रश्न किया था कि यह आत्मा कब तक अप्रतिबुद्ध रहता है? इसके उत्तरस्वरूप १९वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि जब तक यह आत्मा ज्ञानावरणादि जड़कर्म, रागद्वेष, पुण्य-पाप आदि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में अभेद बुद्धि करता है, अर्थात् 'कर्म-नोकर्म में मैं हूँ' और 'मुझमें कर्म-नोकर्म हैं'—ऐसा मानता है, तब तक अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी रहता है।

जिसप्रकार स्पर्श-रस-गंध और वर्णादि भावों में तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकाररूप परिणत हुए पुद्गलस्कंधों में 'यह घट है और घड़े में स्पर्श-रस-गंध और वर्णादि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदि रूप परिणत पुद्गल का स्कंध है' इसप्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है; उसीप्रकार कर्म-मोह आदि अंतरंग और नोकर्म-शरीरादि बाह्य, आत्म-तिरस्कारी पुद्गल-परिणामों में 'यह मैं हूँ' और मुझमें 'यह कर्म-मोहादि अंतरंग तथा नोकर्म-शरीरादि बहिरंग, आत्म-तिरस्कारी पुद्गल-परिणाम हैं'—जब तक इसप्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति है, तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध रहता है।

जैसे घड़े के साथ उसके स्पर्शादि गुण और गोल इत्यादि आकार अभेद हैं; उसीप्रकार अज्ञानी जीव आत्मा और कर्म-नोकर्म को अभेद अनुभव करता है।

पुद्गल-परमाणु द्रव्य है, स्पर्श-रस-गंध-वर्णादि उनके गुण हैं, और आकार-प्रकार आदि उनकी पर्यायें हैं; इसप्रकार अपने-अपने गुणों और पर्यायों से प्रत्येक वस्तु का अभेदपना है। इसलिये घड़ा और स्पर्शादि भाव तथा गोल आदि आकार अभेद हैं-यह तो ठीक है; परंतु ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा रागादि भावकर्म तो पुद्गल के परिणाम हैं तथा आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं इसलिये जब तक उनमें अभेदबुद्धि रहेगी तबतक जीव अज्ञानी रहता है।

जिसप्रकार घड़ा और वर्णादि परस्पर अभेद हैं; उसीप्रकार शुभाशुभभाव और शरीरादि बाह्य पदार्थ पुद्गल के परिणाम होने से परस्पर अभेद हैं तथा आत्मा से अत्यंत भिन्न हैं।

यद्यपि रागादिभाव आत्मा में होते हैं तथापि वे चैतन्य आनंद की मूर्ति भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न नहीं होते, वे तो पुद्गल के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, इसलिये रागादि भाव पुद्गल के परिणाम हैं।

ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा का परिणाम तो निर्मल और पवित्र होना चाहिये। पुण्य-पापभाव तो मलिन और आत्मा का तिरस्कार करनेवाले भाव हैं, इसलिये ये पुद्गल के परिणाम हैं।

शास्त्रों के निमित्त से होनेवाला क्षायोपशमिक ज्ञान भी पर के आश्रय से उत्पन्न हुआ होने से पुद्गल का ही परिणाम है। इन्द्रियज्ञान भी अबंधदशा का कारण नहीं है, वह भी बंध का कारण है, इसलिये पुद्गल का ही परिणाम है।

देखो—दिगंबर संतों की वाणी में शास्त्रज्ञान को भी पुद्गल का कहा है। इसलिये तो श्रीमद् राजचंद्रजी ने इसप्रकार बहुमान व्यक्त किया है—'दिगंबर संतों के तीव्र वचनों से रहस्य समझा जा सकता है।' स्त्री-पुत्र, धन, शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि कर्म और पुण्य-पाप आदि भावकर्म तो पर हैं ही; परंतु इन सबको जाननेवाला ज्ञान भी पर है।

साक्षात् समवसरण में होनेवाला भगवान का ज्ञान भी पराश्रित होने से पुद्गल है क्योंकि अपने को जानने में तो आनंद आता है, पर को जानने में आनंद नहीं आता; इसलिये पर को जाननेवाला इंद्रियज्ञान भी पुद्गल का परिणाम ही है।

पर-वस्तु को अपना मानने में पर की महिमा होती है और अपने ज्ञानानंद स्वभाव का

तिरस्कार होता है। ज्ञानावरणादि और शरीरादि आत्मा से अत्यंत भिन्न हैं, रागादि भाव आत्मस्वरूप को हानि पहुँचानेवाले हैं, आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं; इसलिये राग-द्वेष को आत्मा का स्वरूप माननेवाला स्वयं अपना ही शत्रु है।

जो जीव अज्ञानता दूर करके ज्ञानी होना चाहते हैं, उन्हें यह बात समझाते हैं। शिष्य भी अज्ञानता दूर करने के लिये पूछता है कि हे प्रभो! यह अज्ञानता कब तक रहती है? इसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि जब तक यह जीव पर में अपनापन मानता है तब तक अज्ञानी रहता है। जो यह मानता है कि मेरे रहने से घर और व्यापार की व्यवस्था ठीक चलती है, मेरी असावधानी से व्यापार में हानि हो गयी, वह अपने को परपदार्थरूप मानता है तथा स्वाधीन तत्त्व का अनादर करता है।

बहुत से लोग मानते हैं कि शरीर अच्छा रहे तो धर्म हो; मरण के समय यदि सत्पुरुषों का समागम हो तो वे मेरा मरण सुधार देंगे, परंतु उन्हें अपने स्वाधीन स्वभाव की श्रद्धा नहीं है, उन्हें देहादि से भिन्न आत्मस्वभाव का भान नहीं है। देहादि में आत्मा नहीं है और आत्मा में देहादि नहीं है—ऐसी भिन्नता का ज्ञान अज्ञानी को नहीं होता।

अज्ञानी मानता है कि—'एकांत वन में किसी गुफा में बैठे हों, चरों ओर हरा-भरा वन दिखायी देता हो, कलकल नाद करते हुए झरने बह रहे हों—ऐसा स्थान आत्मशांति में सहायक होता है। किंतु जो आत्मशांति के लिये दूसरे को सहायक मानता है, वह परद्रव्य, क्षेत्र, काल आदि से लाभ मानता है। घर में स्त्री-पुत्रादि का संयोग मुझे ध्यान की स्थिरता नहीं होने देता—ऐसा माननेवाला स्वयं को निमित्ताधीन तत्त्व मानता है।

अपने में जिसकी अस्ति हो वही अपने को लाभ या हानि का कारण हो सकता है, परंतु शरीरादि एवं अन्य बाह्य पदार्थों की तो अपने में नास्ति है। जिसकी अपने में नास्ति है, जिसका अपने में प्रवेश ही नहीं है, वह अपने को लाभ-हानि का कारण कैसे हो सकता है?

मैं पर की हानि या लाभ कर सकता हूँ और पर मेरी हानि या लाभ कर सकता है—ऐसा माननेवाला दो तत्त्वों को एक मानता है, वह आत्मा को स्वतंत्र न मानकर शक्तिहीन और पराधीन माननेवाला होने से अविवेकी है, अज्ञानी है।

आत्मा की रुचि और बहुमान प्रगट करने के लिये सत्समागम की महिमा भी की जाती

है। परंतु पर की ओर झुकाव होना राग है, और वीतरागता प्रगट होने में राग सहायक नहीं होता। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का निमित्त भी पर है, उनका अवलंबन भी शुभराग होने से वीतराग धर्म प्रगट होने में सहायक नहीं है।

जब सत् समझने की तीव्र प्यास होती है तब सत् समझानेवाले गुरु मिलते ही हैं। यद्यपि गुरुगम के बिना सत् समझ में नहीं आ सकता तथापि समझने का पुरुषार्थ स्वयं को ही करना पड़ता है, गुरु नहीं समझा सकते। सत् समझने की अपनी पूर्ण तैयारी होने पर सत्समागम की राह नहीं देखनी पड़ती। अपनी तैयारी होने पर सद्गुरु का निमित्त मिल ही जाता है, किंतु अपनी जागृति में अपूर्णता हो तो अपने कारण से अपने को सत्समागम भी नहीं मिलता।

अब, यह आत्मा प्रतिबुद्ध कैसे होता है—यह बताते हैं।

जिसप्रकार रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व-पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली है, उष्णता और ज्वाला तो अग्नि की ही है; उसीप्रकार अरूपी आत्मा की अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है, कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं; इसप्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से जब भेदविज्ञानमूलक अनुभूति उत्पन्न होती है तभी आत्मा प्रतिबुद्ध होता है।

स्वच्छता दर्पण का गुण है, उसमें जो कुछ भी दिखायी देता है, वह स्वच्छता ही है। स्वच्छता में ही स्व और पर का स्वरूप प्रतिभासित होता है। दर्पण में दिखनेवाली अग्नि अग्नि में ही है, उष्णता और ज्वाला अग्नि में ही रहती है, वे कहीं दर्पण में नहीं घुस जातीं। दर्पण में दिखनेवाली अग्नि तो दर्पण की ही स्वच्छतारूप पर्याय है, अग्नि की पर्याय नहीं है।

जिसप्रकार अग्नि को प्रतिबिम्बित करनेवाली दर्पण की स्वच्छता ही है; उसीप्रकार स्व-पर को जाननेवाली अरूपी आत्मा की ज्ञातृता ही है। आचार्यदेव रूपी दर्पण का दृष्टांत देकर अरूपी आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। स्व-पर को जाननेवाला अपना ज्ञानस्वभाव ही है, ज्ञात होनेवाले शुभाशुभ रागादि अथवा कर्म-नोकर्म आदि तो सब पुद्गल के परिणाम हैं।

दर्पण में लालरूप परिणमने की योग्यता थी इसलिये उसकी स्वच्छता लालरूप दिखती है। दर्पण की लालरूप अवस्था अग्नि के कारण नहीं होती। यदि दर्पण में होनेवाली लाल अवस्था अग्नि के कारण हो तो लकड़ी में भी वैसी लाल अवस्था होनी चाहिये, परंतु ऐसा नहीं होता। इसीप्रकार कर्म-नोकर्म आदि ज्ञानस्वभावी अरूपी आत्मा में ज्ञात होते हैं, वह मात्र ज्ञान

की स्वच्छता ही है। कर्म-नोकर्म आदि के कारण आत्मा उन्हें जानता हो—ऐसा नहीं है; आत्मा अपनी योग्यता से ही उन्हें जानता है।

आत्मा ऐसा ज्ञानरूपी निर्मल दर्पण है कि ज्ञेय पदार्थों से भिन्न रहकर भी वह उन्हें जान लेता है। वास्तव में तो आत्मा अपनी ज्ञानपर्याय को ही जानता है। ज्ञानपर्याय में ज्ञात होनेवाले कर्म-नोकर्मादि को आत्मा नहीं जानता, वह तो अपनी अवस्था को ही जानता है। ज्ञान में जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता है वही ज्ञेय निमित्तरूप में उपस्थित होता है, किंतु ज्ञान तो अपनी योग्यता से ही होता है, निमित्त से नहीं होता।

जब यह जीव स्वयं या परोपदेश से आत्मा और कर्म-नोकर्म की भिन्नता को जानकर भेद-विज्ञानमूलक अनुभूति प्रगट करता है, तब ज्ञानी होता है।

अपने को और रागादि पर को जाननेवाली ज्ञानपर्याय ही आत्मा ही है, कर्म-नोकर्मादि पुद्गल के हैं—इसप्रकार स्वयं या गुरु के उपदेश से जानकर भेदज्ञानमूलक अनुभूति उत्पन्न होती है, तब यह जीव ज्ञानी होता है।

भक्ति, दया, दानादि के विकल्प परज्ञेय हैं, स्वज्ञेय नहीं। ज्ञान का स्वभाव शुभाशुभ रागरूप परज्ञेय को प्रकाशित करता है। ज्ञान में ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं, परंतु ज्ञान और ज्ञेय मिलकर एक नहीं हो जाते।

इसप्रकार भेदज्ञान होने पर आत्मा प्रतिबुद्ध होता है, अर्थात् सम्यग्ज्ञानी होता है। भेदविज्ञान होने पर ही मोक्षमार्ग होता है।

जिसप्रकार स्पर्शादि में पुद्गल का और पुद्गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है, अर्थात् दोनों एकरूप अनुभव में आते हैं; उसीप्रकार जब तक इस जीव को कर्म-नोकर्म में आत्मा की और आत्मा में कर्म-नोकर्म की भ्रांति होती है, अर्थात् दोनों एकरूप भासित होते हैं, तब तक यह अप्रतिबुद्ध रहता है और जब यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म-नोकर्म पुद्गल के ही हैं तभी वह प्रतिबुद्ध होता है।

यहाँ पुद्गल का उदाहरण देकर जीव की बात समझायी है। जिसप्रकार पुद्गल में गुण-गुणी अभेदरूप से रहते हैं; उसीप्रकार ज्ञान को अंतर्मुख करके ज्ञान और आत्मा का अभेद अनुभव करना ही सम्यग्ज्ञान है। परंतु ऐसा न करके 'मैं शरीररूप हूँ' या 'मैं राग रूप हूँ'

इसप्रकार शरीर और आत्मा में एकत्व बुद्धि करना अज्ञान है।

यहाँ जीव-अजीव अधिकार है, इसलिये शरीर और रागादि में एकत्वबुद्धिरूप अज्ञान की बात की है तथा कर्त्ता-कर्म अधिकार नहीं है, इसलिये 'मैं शरीरादि का कर्त्ता हूँ'—ऐसे अज्ञान की बात नहीं की।

जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखती है, परंतु ज्वाला तो अग्नि में ही रहती है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं हो जाती, जो दर्पण में दिखायी दे रही है, वह दर्पण की स्वच्छता ही है; इसीप्रकार कर्म-नोकर्म अपने आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाते, आत्मा की ज्ञान-स्वच्छता ही ऐसी है कि उसमें ज्ञेय प्रतिभासित हों, कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं इसलिये वे प्रतिभासित होते हैं। जब आत्मा को स्वयं ही या परोपदेश से ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव होता है, तब वह प्रतिबुद्ध होता है।

अब, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥२१॥

जो पुरुष स्वयं या पर के उपदेश से किसी भी प्रकार से जिसका मूल कारण भेद-विज्ञान है—ऐसी अविचल अनुभूति को प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पण की भाँति अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनंत भावों के स्वभावों से निरंतर विकाररहित होते हैं—अर्थात् ज्ञान में प्रतिभासित होनेवाले ज्ञेयों के आकारों से रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते।

''मैं शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म एवं शुभाशुभ राग से भी भिन्न ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा हूँ''—ऐसा भेदज्ञान ही आत्मा की अविचल अनुभूति का कारण हो सकता है। यह आत्मा शरीरादि से तो भिन्न है ही, परंतु अंतर में उत्पन्न होनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग आदि पाप परिणामों से तथा भक्ति-दया-दान-व्रतादि पुण्य परिणामों से भी भिन्न निर्मल ज्ञानानंदस्वभावी चैतन्य तत्त्व है—ऐसा भेदविज्ञान ही अनुभूति की उत्पत्ति का कारण है। यह जीव भेदविज्ञान के बल से ही अंतर में विराजमान दिव्यशक्ति के नाथ चैतन्यदेव की अनुभूति करता है।

सम्यग्दर्शन और ज्ञान में शुद्ध आनंदमूर्ति आत्मा का अनुभव होना, अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आना ही आत्मा की अनुभूति है। ऐसी अनुभूति की उत्पत्ति का कारण भेदविज्ञान है। दया-दान-व्रतादि का शुभराग आत्मानुभूति का कारण नहीं है।

'मैं शुभाशुभ रागरूप हूँ'—ऐसा अनुभव तो घोर अज्ञान है, संसार भ्रमण का कारण है। चैतन्य तत्त्व की अनुभूति तो शुभाशुभ राग से भिन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान और स्वरूपाचरणरूप होती है, जिसकी उत्पत्ति का मूल कारण राग से भिन्न आत्मा का ज्ञान है।

जो जीव अंतर में विराजमान परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा को शुभाशुभ राग से भिन्न जानकर अतीन्द्रिय आनंद के वेदनपूर्वक अविचल आत्मानुभूति करते हैं, वे जीव दर्पण के समान अपने ज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेवाले अनंत भावों के स्वभावों को अर्थात् शरीर एवं रागादि को जानते हुए भी विकारी नहीं होते। ज्ञानी के ज्ञान में अनंत परज्ञेय तथा रागादि ज्ञात होते हैं; परंतु उन्हें मैं ज्ञेयरूप हो गया, मैं रागरूप हो गया—ऐसी एकत्व बुद्धि नहीं होती।

जिसप्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थ और दर्पण मिलकर एकरूप नहीं हो जाते; उसीप्रकार आत्मा के स्व-पर प्रकाशकस्वभाव में ज्ञात होनेवाले अनंत ज्ञेय और आत्मा मिलकर एक नहीं होते।

ज्ञानी जीव ने अपने स्वरूप का राग से भिन्न अनुभव किया है। राग से भिन्न आत्मा का अनुभव होने के बाद भी ज्ञानी को रागादि होते हैं और वे उसके ज्ञान में ज्ञात होते हैं; परंतु इससे ज्ञानी का ज्ञान रागरूप नहीं हो जाता और ज्ञानी भी रागादि का ज्ञान होने पर भी अपने को राग से भिन्न ही अनुभव करते हैं।

अज्ञानी को राग से भेद-विज्ञान नहीं होता। जब उसके ज्ञान में रागादि ज्ञात होते हैं, तब वह अपने को रागरूप ही अनुभव करता है। जिसने राग में एकत्वबुद्धि की अथवा शुभराग को उपादेय माना—उसने आत्मा को हेय माना, आत्मा का तिरस्कार किया है।

स्व और पर का यथार्थ भेदज्ञान करना धर्म की पहली सीढ़ी है। परंतु अज्ञानी परद्रव्य के ग्रहण-त्याग को धर्म मानते हैं और वह उन्हें सरल लगता है, जबकि आत्मा परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कर ही नहीं सकता। आत्मा पर का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता—ऐसा जानकर रागादि से भिन्न आत्मा का अनुभव करने पर ही यह जीव प्रतिबुद्ध होता है।

अब आगामी गाथाओं में अप्रतिबुद्ध की पहिचान बतायेंगे। ✱

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

इन सब बातों की यथार्थ जानकारी के बिना वीर्य कहाँ से स्फुरण हो ? इस जगत में छह वस्तुयें हैं। उनमें जीववस्तु है और वह स्वतंत्ररूप से कायम (स्थिर) रहती है। सोनेवाला (स्वर्ण) पत्थर आता है, उसमें से प्रयोग द्वारा सोना पृथक् हो सकता है। उसीप्रकार भव्यजीव स्वयं के आत्मा में स्थिरता के प्रयोग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। अंतर-उपादान के आधार से काम होता है। उप=समीप, आदान=ग्रहण करना। भव्य मिथ्यादृष्टि को वर्तमान में स्वयं की शक्ति का विश्वास नहीं है, किंतु भविष्य में स्वयं की शक्ति का विश्वास करके अंतरात्मा और परमात्मा होगा, ऐसा ज्ञानी जानता है। वर्तमान में मिथ्यादृष्टि को प्रगट बहिरात्मपना होने पर भी भविष्य में अंतरात्मपना और परमात्मपना प्रगट करेगा। इस अपेक्षा से वर्तमान में उसको अंतरात्मा और परमात्मा आरोप से कह देना, वह भावीनैगमनय से है, इसप्रकार ज्ञानी जानता है।

अब अभव्य की बात करते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्यजीव व्यक्तिरूप से बहिरात्मा है। अंतर शुद्धस्वरूप है, उसको नहीं मानता है, पुण्य-पाप जितना ही आत्मा को मानता है। शक्ति से तो वह भी अंतरात्मा और परमात्मा है, लेकिन उसकी व्यक्ति नहीं होती है। जैसे अंध पाषाण में से सोना पृथक् नहीं होता है, बंध्या को पुत्र नहीं होता; उसीप्रकार अभव्य कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं करता है। भव्य और अभव्य अनादि से हैं, यह सर्वज्ञ ने देखा है, किसी ने उनको किया नहीं है, जो है उसको कोई करता नहीं है, और जो नहीं होता वह नया नहीं होता है।

किसी लकड़ी को पानी में तैरने का प्रसंग न आया हो, और बाहर में रहकर वह जल जाती है, फिर भी उसका तैरने का स्वभाव जाता नहीं है। उसीप्रकार अभव्य कभी तिरता नहीं है, संसार से पार नहीं होता, फिर भी तिरने का स्वभाव तो उसमें शक्तिरूप से है; किंतु प्रगटरूप में धर्म अथवा मोक्षदशा वह प्रगट करे ऐसा नहीं होता है। बठर मूंग लाखमन पानी से भी नहीं सीझती (पकती) है, उसीप्रकार तीर्थंकरों के उपदेश की बहुलता मिले तब भी अभव्य जीव

मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं करता है। क्रियाकांड बहुत करता है और मर जाता है, किंतु सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करता। इसलिये भावीनैगमनय से भी अभव्य जीव को अंतरात्मा तथा परमात्मा नहीं कहा जा सकता। इसप्रकार भव्य, अभव्य का ज्ञान कराया।

यह जीव द्रव्य का अधिकार है। बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा—इसप्रकार जीव की तीन अवस्थायें हैं। जो जीव पर को अपना मानता है, पुण्य-पाप को अपना मानता है, वह बहिरात्मा है। भव्यमिथ्यादृष्टि है, उसको व्यक्त बहिरात्मपना है, किंतु शक्ति तो अंतरात्मा और परमात्मारूप से होने की है। वह जीव स्वयं की शक्ति का भरोसा करके भविष्य में अंतरात्मा और परमात्मा होगा। इसलिये भावीनैगमनय से वर्तमान में अंतरात्मा और परमात्मा का आरोप किया जा सकता है। एकसमय में एक जीव को तीनों अवस्थायें साथ में नहीं होती हैं।

(१) जो जीव केवलज्ञान शक्तिरूप से मानता है, उसकी दृष्टि स्वभाव-सन्मुख होती है, वह अंतर की ओर झुकता है। उसको मोक्षमार्ग की शुरुआत हुई है।

(२) जो जीव केवलज्ञान को सत्तारूप से मानता है, उसकी दृष्टि आवरण दूर करने पर रहेगी। कारण कि वह मानता है कि कर्म का आवरण दूर करने से केवलज्ञान प्रगट होगा। ऐसी मान्यता से उसकी दृष्टि व्यवहार पर रहेगी। इसलिये ऐसी मान्यतावाले को कभी धर्म नहीं होता है।

(३) लेकिन जो जीव केवलज्ञान को शक्तिरूप से मानता है—वह विचारता है कि वर्तमानदशा पूर्ण नहीं है, किंतु पूर्ण होने का कारण तो अंतर में है, इससे उसका झुकाव अंतर की ओर जायेगा और इसप्रकार अंतर की ओर झुकने की कहनेवाले सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को वह मानता है तथा इससे विपरीत कहनेवाले को वह नहीं मानता है।

प्रत्येक जीव में केवलज्ञान की शक्ति है, ऐसी शक्तिवाले अनंत प्रभु हैं। मैं स्वयं भी भगवान हूँ। मेरा भगवान भी मेरे आश्रय से प्रगट होता है, किंतु पर-ओर के झुकाव से वह प्रगट नहीं होता है। देव, गुरु, शास्त्र ऐसा कहते हैं और वह वैसा मानता है। इसप्रकार भव्य जीव में योग्यता होने से भावीनैगमनय से वर्तमान में उसे अंतरात्मा और परमात्मा कह सकते हैं।

अब अभव्य की बात करते हैं। अभव्य मिथ्यादृष्टि वर्तमान में बहिरात्मा है। शक्ति से वह भी अंतरात्मा और परमात्मारूप से है, लेकिन वह कभी व्यक्त करने का नहीं है। इसलिये भावीनैगमनय से उसको अंतरात्मा अथवा परमात्मा नहीं कह सकते हैं। अभव्य क्रियाकांड

करता है, अंतर शुद्धस्वभाव की बात उसको नहीं रुचती, ऐसी अभव्य की जाति है। इसप्रकार उसकी केवल पहचान करायी है।

जैन अर्थात् जीतनेवाला—वस्तु-शक्ति की परिपूर्णता की प्रतीति और स्थिरता करता है, वह जैन है। वस्तु की शक्ति अर्थात् आत्मा में केवलज्ञान शक्ति भरी है, उसका भरोसा करता है, वह जैन है।

समयसार में ४७ शक्तियों का वर्णन है, उनमें एक सर्वज्ञशक्ति कही है। वह आत्मद्रव्य में त्रिकाल विद्यमान है, उसके भरोसे मोक्षमार्ग प्रगटता है। इसप्रकार माननेवाले की दृष्टि अंतर झुकती है। और रागवाली अवस्था में ऐसी शक्ति माननेवाले को सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति राग होता है और कुदेवादि के प्रति राग दूर हो जाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय केवलज्ञान सत्तारूप से मानता है—यह महान भूल है। केवलज्ञान प्रगटरूप है; किंतु कर्म के बादलों से ढका हुआ मानते हैं और आवरण दूर करना चाहते हैं; इसलिये उसका वजन कर्म दूर करने पर और व्यवहार पर जाता है। यशोविजयजी कहते हैं कि जो व्यवहारी है वह सम्यग्दृष्टि है-यह महान भूल है।

कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि निश्चयनयाश्रित मुनिवर निर्वाण की प्राप्ति करते हैं, जिनको निश्चयशक्ति का आश्रय है, वे मुक्ति प्राप्त करते हैं। स्वभाव के आश्रय से वीतरागता प्रगटती है। इसप्रकार दोनों के शास्त्रों में महान अंतर है। इसलिये जीव को निर्णय करना चाहिये।

अब शंकाकार कहते हैं कि अभव्य जीव में परमात्मदशा शक्तिरूप से रहती है, तब अभव्य कैसे हो? सर्व जीव सिद्धसमान हैं, तब फिर उनको अभव्य क्यों कहा जाये?

उत्तरः—अभव्य जीव को भी उसके आत्मा में तो परमात्मा होने की शक्ति है, किंतु उसको उसका विश्वास नहीं होता है, उसका ज्ञान राग में अटकता है, अतएव उसको अनंत ज्ञान-दर्शन-आनंद-वीर्य प्रगट नहीं होते हैं। जैसे अंध पाषाण में से सोना पृथक् नहीं होता; उसीप्रकार अभव्य को कभी धर्म नहीं होता है। उसकी शक्ति केवलज्ञानादि की है, वह नहीं जाती है।

शुद्धनय से परमात्मारूप शक्ति तो भव्य-अभव्य दोनों में समान है। यदि अभव्य जीव में केवलज्ञानरूपशक्ति मानने में नहीं आये तो केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं होता।

स्थानकवासी संप्रदाय में एक साधु के साथ बातचीत होने से उनने कहा कि 'अभव्य को ज्ञानावरणीय की तीन प्रकृति होती है। उसको मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान कभी प्रगट नहीं होता है। इसलिये उसको मन:पर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय प्रकृति नहीं हो सकती—ऐसा उनने तर्क दिया, लेकिन यह बात असत्य है।

भव्य अथवा अभव्य सभी को ज्ञानावरणीय की पाँच प्रकृतियाँ होती हैं और फिर वह साधु ऐसा कहत हैं कि अभव्य को अनादि से मोहनीय की २६ प्रकृति सत्ता में होती हैं। कारण कि अभव्य को सम्यग्दर्शन कभी होता नहीं है, और भव्य को सम्यग्दर्शन होता है, इसलिये सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय मिलकर २८ प्रकृतियाँ होती हैं। कारण कि वे प्रकृतियाँ होवें तो उनका नाश कर सम्यक्त्व प्रगट करता है। इसी के अनुसार पुस्तक भी प्रकाशित हुई, किंतु यह बात असत्य है। भव्य अथवा अभव्य दोनों को २६ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। और भव्य सादिमिथ्यादृष्टि को २८ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। क्योंकि एक बार सम्यग्दर्शन हुआ हो, उस दर्शन से तीन (अविद्धमिथ्यात्वप्रकृति के) टुकड़े हो जाने से २८ प्रकृतियाँ होती हैं—इसप्रकार समझना चाहिये। इसप्रकार भव्य-अभव्य दोनों के केवलज्ञान शक्तिरूप से है। भव्य-अभव्य के भेद अशुद्धनय से हैं।

जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि में तीन प्रकार आत्मा का नयविभाग से वर्णन किया, उसीप्रकार बाकी के तेरह गुणस्थानों में विचार करना। बहिरात्मा की अवस्था के समय अंतरात्मा तथा परमात्मा शक्तिरूप से रहता है तथा भावीनैगमनय से व्यक्तिरूप समझना चाहिये।

अब अंतरात्मा का कथन करते हैं। 'मैं आत्मा शुद्ध हूँ, ज्ञाता हूँ, कर्म-शरीर जड़ हैं, और दया-दानादि के भाव विकार हैं, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है'—इसप्रकार भान हुआ वह अंतरात्मा है। 'मेरा स्वरूप मेरे में है, परज्ञेय पर में हैं। पर्याय में होता हुआ राग भी व्यवहारज्ञेय है, निश्चयज्ञेय स्वयं है'—ऐसी निर्विकल्प प्रतीति हुई उसको अंतरात्मा कहते हैं। वह अंतरात्मा भूतपूर्वन्याय से बहिरात्मा है। जैसे घी का घड़ा—पहले घी भरा हुआ था, वर्तमान में घी नहीं होने पर भी घी के घड़े से पहचाना जाता है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पहले बहिरात्मा था, इसलिये भूतपूर्वन्याय से बहिरात्मा कहा जाता है।

अब परमात्मा की बात करते हैं। परमात्मा को अंतरात्मा तथा बहिरात्मा कहना ये दोनों भूतपूर्वनय से कहे जाते हैं। जिसको परमात्मपना प्रगट हुआ है, वह भविष्य में भी परमात्मा

होगा, इससे शक्ति खाली हो गयी है—ऐसा नहीं है। ऐसी की ऐसी दशा अथवा इसीप्रकार की दशा भविष्य में रहेगी। इसप्रकार त्रिकालद्रव्य के साथ संधि करके बात कही है।

और परमात्मास्वरूप शक्तिरूप से है। तथा भावीनैगमनय से सिद्धसमान वर्तमानदशा में कह सकते हैं। जैसे लींडी पीपर में तीखापन (चरपरापन) शक्ति से भरा हुआ है—उसमें से वह व्यक्त होता है। जिसको अंतरशक्ति का विश्वास आया है—उसको परमात्मपना प्रगट होगा, उसको वर्तमान में आरोप से सिद्ध कह दिया जाता है।

उसका सार निम्न प्रकार है। जीव की पर्याय के तीन भेद हैं—इनमें एक समय में एक पर्याय प्रगटरूप से होती है। बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा। उनमें भव्य और अभव्य ऐसे दो भेद बताये। भव्य मिथ्यादृष्टि को वर्तमान में प्रगटरूप से बहिरात्मपना है, और अंतरात्मपना तथा परमात्मपना शक्तिरूप से है, और भावीनैगमनय से अंतरात्मपना तथा परमात्मपना कह सकते हैं। अभव्य मिथ्यादृष्टि को वर्तमान में प्रगटपने बहिरात्मपना है। और अंतरात्मपना तथा परमात्मपना शक्तिरूप से है। किंतु भविष्य में प्रगट नहीं करेगा, इसलिये भावीनैगमनय से अंतरात्मा तथा परमात्मा नहीं कह सकते हैं।

अंतरात्मा को वर्तमान में आत्मा का भान है, इससे प्रगट अंतरात्मा है, शक्तिरूप से परमात्मा है। भूतपूर्वन्याय से बहिरात्मा कह सकते हैं, और भावीनैगमनय से परमात्मा कह सकते हैं। परमात्मा है, वह शक्ति और व्यक्तरूप से परमात्मा है और भूतपूर्वन्याय से बहिरात्मा और अंतरात्मा कह सकते हैं, भविष्य का आरोप नहीं है। इसप्रकार त्रिकाली द्रव्य सिद्ध किया, पर्याय में परिवर्तन बताया, शक्तिस्वभाव बताया, मिथ्यादृष्टि को वर्तमान में बहिरात्मपना बताया, वह परिवर्तन कर अंतरात्मपना प्रगट सकता है वह बताया, और कितना प्रगट करना शेष है, ऐसा भी ज्ञान कराया।

उपरोक्त कथन से निम्न बातों का निर्णय होता है:—

(१) अनेक लोग देव-गुरु-शास्त्र से तथा उनके प्रति राग से धर्म मानते हैं, यह बात झूठी ठहरती है। व्यवहार से निश्चय प्रगटता है, यह बात असत्य ठहरती है।

(२) प्रथम व्यवहार होता है और बाद में निश्चय प्रगटता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं,

यह बात असत्य है। शक्ति की प्रतीति करे तब धर्म प्रगटता है। उस समय जो राग-द्वेष होता है, उसको व्यवहार कहते हैं।

(३) अध्यात्मदृष्टि में मुख्य वह निश्चय है और गौण वह व्यवहार है, यह बात सिद्ध होती है।

(४) आत्मा में अंतरज्ञानशक्ति भरी है—ऐसा स्वीकार करने से आत्मा में केवलज्ञान सत्तारूप है, इस बात का निषेध होता है। इसप्रकार आत्मा में शक्ति भरी हुई है, जीव ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करता है, तब अंतरात्मा होकर पूर्ण परमात्मा होता है।

अब तीन भेदों को गुणस्थान में नियोजित करते हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र—इन तीन गुणस्थान में तारतम्यन्यूनाधिकभाव से बहिरात्मपना जानना चाहिये। अविरत नाम के चौथे गुणस्थान से अंतरात्मा जानना। आत्मा शुद्धचिदानंद है ऐसे भानवाले चौथे गुणस्थान में असंख्य प्रकार हैं। इस भूमिका में किसी को लड़ाई का परिणाम होता है, विषयों में रत दिखता है, फिर भी स्वभाव की रुचि हटती नहीं है, उसे जघन्य अंतरात्मा जानना। और बारहवें गुणस्थान वाले जीव को उत्कृष्ट अंतरात्मा जानना। बीच वाले मध्यम अंतरात्मा हैं। तेरहवें गुणस्थान की सयोगीदशा और चौदहवें गुणस्थान की अयोगीदशा—वह विवक्षित एकदेश शुद्धनय से सिद्धसमान है।

अब हेय उपादेय की बात करते हैं। शरीर और पुण्य से धर्म मानता है, ऐसा बहिरात्मपना छोड़ने जैसा है। और सिद्ध के अनंत सुख का साधन अंतरात्मा है, इसलिये अंतरात्मा उपादेय है। और पूर्णपरमात्मा साक्षात् उपादेय है। *[क्रमशः]*

यह है जैनशासन का सार!

अहो! प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होता हुआ उस-उस परिणाम में तद्रूप होकर उसे करता है, दूसरे परिणाम को नहीं करता; इस एक सिद्धांत में छहों द्रव्यों के तीनों काल के परिणमन के हल की चाबी आ जाती है।

— पूज्य स्वामीजी

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न- क्या क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में गुंथित ही है ?

उत्तर- हाँ, क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में गुंथी हुई ही है और इसे सर्वज्ञ प्रत्यक्ष जानते हैं। निम्नदशावालों को प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भी पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। ऐसा अनुमान ज्ञान से ज्ञात होता है।

प्रश्न- सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में शुभाशुभ दोनों भाव हेय हैं तो क्या उसे अशुभ को छोड़कर शुभ करने का विकल्प नहीं आता ?

उत्तर- सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि शुद्ध निश्चयनय से मैं मोह-राग-द्वेष रहित शुद्ध हूँ। उसे ऐसा विकल्प कभी नहीं आता कि जब शास्त्र में शुभ और अशुभ दोनों को एक समान कहा है तो भले ही अशुभ आ जावे—क्या हानि है ? सम्यग्दृष्टि अशुभ से बचने के लिये वाँचन, श्रवण, मनन, भक्ति आदि बराबर करता है। प्रयत्नपूर्वक भी अशुभ छोड़कर शुभ करो—ऐसा शास्त्र में उपदेश वाक्य भी आता है यद्यपि शुभ और अशुभ परमार्थ से समान ही हैं; तथापि अपनी भूमिका प्रमाण अशुभ की अपेक्षा शुभ में रहने का विवेक होता है और उसप्रकार का विकल्प भी आता है। अरे भाई ! सम्यग्दृष्टि को पाप भाव में स्वच्छंदता नहीं होती।

प्रश्न- अज्ञानी पुरुष का संसार क्या है और आत्मज्ञान शून्य विद्वान का संसार क्या है ?

उत्तर- जो पुरुष अज्ञानी है अर्थात् वास्तविक रीति से हिताहित को जानता नहीं है, उसका संसार तो स्त्री-पुत्रादि ही हैं। परंतु जो विद्वान है, शास्त्रों का अक्षराभ्यास भी विशदरूपेण कर चुका है, अनेकों श्लोक-गाथायें अपने स्मृति-पटल पर अंकित कर चुका है किंतु आत्मज्ञान से शून्य है, उसका संसार शास्त्र हैं।

प्रश्न- स्व-द्रव्य को पर-द्रव्य से भिन्न देखो-ऐसा श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है। कृपया इसका कुछ विस्तृत विवेचन कीजिये।

उत्तर- देह, मन, वाणी तथा स्त्री-पुत्रादि तो परद्रव्य होने से भिन्न हैं ही; किंतु देव, शास्त्र, गुरु भी परद्रव्य होने से आत्मा से भिन्न ही हैं—ऐसा देखो। एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ भी कर सकता नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव चमत्कारिक है। एक रजकण दूसरे रजकण का कार्य किंचित्मात्र भी नहीं कर सकता। लकड़ी हाथ से ऊँची उठी नहीं अथवा कलम से अक्षर लिखे नहीं गये, कारण कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न है। स्व-द्रव्य और परद्रव्य को भिन्न-भिन्न देखने में द्रव्य की प्रभुता है।

प्रश्न- ज्ञानी जीव सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है और सम्यक्त्व-सन्मुख जीव भी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है। उन दोनों की विधि का प्रकार एक ही है या उसमें कोई विलक्षणता है ?

उत्तर- ज्ञानी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है, उसे तो आत्मा का लक्ष हुआ है, आत्मा लक्ष में है और उसमें एकाग्रता का विशेष पुरुषार्थ करने पर विकल्प छूटकर निर्विकल्प होता है; परंतु स्व-सन्मुख जीव को तो अभी आत्मा का लक्ष ही नहीं हुआ है, अतः उसने तो ज्ञान में ऊपर-ऊपर (धारणा से) ही जाना है, प्रत्यक्ष नहीं हुआ। विकल्प से आत्मा का लक्ष बाहर-बाहर हुआ है, उसको अंदर पुरुषार्थ उग्र होने पर सविकल्पता छूटकर निर्विकल्पता होती है। इसप्रकार निर्विकल्प होने की विधि का प्रकार एक होने पर भी ज्ञानी ने तो वेदन से आत्मा जाना है और स्व-समुख वाले ने बाहर-बाहर आनंद के वेदन बिना आत्मा को जाना है।

प्रश्न- विकल्प से निर्विकल्प होने में सूक्ष्म विकल्प रोकता है। उसका क्या करें ?

उत्तर- निर्विकल्प होने में विकल्प रोकता नहीं है। वास्तविकता यह है कि तू स्वयं अंदर में ढलने योग्य पुरुषार्थ करता नहीं है, इसलिये विकल्प टूटता नहीं है। विकल्प को तोड़ना नहीं पड़ता, किंतु स्वरूप में ढ़लने का पुरुषार्थ उग्र होने पर विकल्प सहज ही टूट जाता है।

प्रश्न- सम्यक्त्व-सन्मुख-जीव तत्त्व के विचार में राग को अपना जानता है क्या ?

उत्तर- सम्यक्त्व-सन्मुख-जीव ऐसा जानता है कि राग है, वह मेरा अपराध है; राग वह मेरा स्वरूप नहीं, राग वह मैं नहीं, ऐसा जानकर उसका लक्ष छोड़कर अंदर में जाने का आत्मानुभव करने का प्रयत्न करता है।

❀*❀*

समाचार दर्शन

सोनगढ़ समाचार एवं पूज्य स्वामीजी के विहार का कार्यक्रम

पूज्य स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं। उनका स्वास्थ्य ठीक है। प्रातः श्री समयसार पर एवं दोपहर में प्रवचनसार परमागम पर उनके मार्मिक प्रवचन चल रहे हैं। उनका विहार कार्यक्रम निम्नानुसार निश्चित हुआ है :—

दिनांक	१४-३-७९ से २८-३-७९	राजकोट	१५ दिन
दिनांक	२९-३-७९ से २-४-७९	मोरबी	५ दिन
दिनांक	३-४-७९ से ८-४-७९	जानगर	६ दिन
दिनांक	९-४-७९ से १३-४-७९	बांकानेर	५ दिन
दिनांक	१४-४-७९ से १८-४-७९	बंबई	१५ दिन

दक्षिण भारत के तीर्थ क्षेत्रों का दौरा

श्री कुंदकुंद कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट के अध्यक्ष पंडित बाबूभाई मेहता एवं श्री शशिभाई म० सेठ, श्री सेठ भबूतमलजी भंडारी, पंडित भरत चक्रवर्ती शास्त्री, श्री व्ही० सी० श्रीपालन, श्री शांतीलालजी भायाणी, श्री मनहरलाल सेठ, एवं श्री प्रवीणभाई दोशी ने दक्षिण भारत के गाँव-गाँव में ८०० कि०मी० के प्रवास के दौरान दिगंबर जैन क्षेत्रों व मंदिरों की स्थिति प्रत्यक्ष देखकर जिनमंदिरों के जीर्णोद्धार हेतु निम्नानुसार दानराशि की घोषणा की। विभिन्न स्थानों पर पंडित बाबूभाई के प्रवचन हुए।

१.	अरुंगुलम	श्री धर्मनाथ दि० जैन मंदिर	६,०००)
२.	तीरुप्परम्बुर	श्री पुष्पदंतस्वामी दि० जैन मंदिर	५,०००)
३.	करण्डे	श्री मुणीगिरी दि० जैन मंदिर	५,०००)
४.	सेवुर	श्री दिगंबर जैन मंदिर	७,५००)
५.	आरनी	श्री आदिनाथस्वामी दि० जैन मंदिर	५,०००)
६.	पोण्डी	श्री पार्श्वनाथस्वामी दि० जैन मंदिर	४,०००)
७.	किलपील्लीपलम	श्री महावीरस्वामी दि० जैन मंदिर	१०,०००)
८.	किलसातमंगलम्	श्री दिगंबर जैन मंदिर	२,५००)

९.	तिरूनरूकुन्द्रम	श्री आदिनाथ दि० जैन मंदिर	७,०००)
१०.	श्रवणबेलगोला	श्री दिगंबर जैन मंदिर	१२,०००)
		योग	६४,०००) रुपये

— माणिकलाल आर० गाँधी

श्री कुंदकुंद कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट को दानराशि के वचन प्राप्त

बैंगलोर :- पंडित बाबूभाई मेहता के बैंगलोर प्रवास के दौरान कुंदकुंद कहान दिगंबर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट को ३०,५६६) रुपये की दानराशि के वचन प्राप्त हुए। इसीप्रकार राजकोट से २०,०००) की स्वीकृति प्राप्त हुई तथा पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा की प्रेरणा से बंबई घाटकोपर, मलाड़, दादर मुमुक्षु-मंडलों द्वारा ४०,०००) के वचन प्राप्त हुये।

- माणिकलाल आर० गाँधी

वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव

रांझी (जबलपुर) :- दिनांक २४ फरवरी से २८ फरवरी तक प्रतिष्ठाचार्य पंडित धन्नालालजी के मार्गदर्शन में दिगंबर जिनबिम्ब वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन है। इस अवसर पर पंडित बाबूभाईजी मेहता एवं डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल के आध्यात्मिक प्रवचनों का लाभ भी मिलेगा।

— सुभाषचंद्र जैन

गोरमी (म०प्र०) :- दिनांक ३-२-७९ से १०-२-७९ तक यहाँ वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव एवं सिद्धचक्र मंडल विधान का आयोजन किया गया है। इस अवसर पर पंडित बाबूभाई मेहता, पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा, पंडित धन्नालालजी ग्वालियर तथा पंडित जवाहरलालजी विदिशा पधार रहे हैं।

— नरेशचंद जैन

डॉ० भारिल्लजी द्वारा अनेक स्थानों पर धर्मप्रभावना

आत्मधर्म के प्रबंध संपादक श्री अखिल बंसल के विवाह-प्रसंग में डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल चंदेरी पधारे। इस अवसर पर आस-पास की समाजों के आग्रहपूर्ण आमंत्रण पर अनेक स्थानों पर उनके भाषण एवं प्रवचनों का आयोजन किया गया, जिसका विवरण निम्नानुसार है :—

चंदेरी :- २३-१-७९ को प्रातः स्थानीय डिग्री कालेज में अहिंसा पर व्याख्यान हुआ जिसमें छात्रों और अध्यापकों के साथ-साथ स्थानीय समाज ने भी लाभ लिया।

दिनांक २५-१-७९ को सायं एवं २६-१-७९ को प्रातः चौबीसी दिगंबर जैन मंदिर में मोक्षमार्गप्रकाशक पर आपके सारगर्भित प्रवचन हुए।

ललितपुर :- दिनांक २४-१-७९ के सायं एवं २५-१-७९ के प्रातः अटा मंदिर में प्रवचनसार गाथा ५६ पर मार्मिक प्रवचन हुए।

खनियाधाना :- दिनांक २६ को सायं और २७-१-७९ को प्रातः मोक्षमार्गप्रकाशक पर डॉक्टर साहब के आकर्षक प्रवचन हुए। समाज ने बहुत आभार व्यक्त किया।

टीकमगढ़ :- यहाँ भी २३-१-७९ की शाम को एक व्याख्यान दिगंबर जैन मंदिर में हुआ।

अशोकनगर :- दिनांक २८ और २९-१-७९ को दिगंबर जैन मंदिर, गंज में मोक्षमार्गप्रकाशक पर डॉ० भारिल्ल के तीन व्याख्यान हुए। आपके साथ पधारे हुए पंडित रतचंदजी भारिल्ल के व्याख्यान भी २७-१-७९ की शाम को और २८-१-७९ को दोपहर में हुए। इसके पूर्व यहाँ पंडित धन्नालालजी ग्वालियर और ब्रह्मचारी परसरामजी भी आठ-दस दिन से पधारे हुए थे। समाज ने उनके प्रवचनों का भी भरपूर लाभ लिया।

जयपुर :- दिनांक १४-१-७९ को महावीर इंटरनेशनल की श्री जगतराजसिंहजी की अध्यक्षता में बैठक हुई। इस अवसर पर डॉ० भारिल्ल का 'अहिंसा' पर गंभीर एवं प्रभावपूर्ण व्याख्यान हुआ। **— अभय जैन**

पंडित धन्नालालजी द्वारा धर्म प्रभावना

बीना बजरिया (म०प्र०) :- समाज के विशेष आग्रह पर पंडित धन्नालालजी ग्वालियर से पधारे। दिनांक १७-१२-७८ से २२-१२-७८ तक आपके प्रतिदिन चार समय प्रवचन चलते थे। परमार्थ वचनिका, प्रवचनसार, सत्तास्वरूप तथा समयसार कलश पर हुए आपके प्रवचनों से समाज लाभान्वित हुई। एक दिन स्थानीय इटावा मंदिर में भी आपके प्रवचन हुए। **— बाबूलाल जैन 'मधुर'**

राधौगढ़ :- श्री धन्नालालजी ग्वालियर ११-१-७९ से २०-१-७९ तक पधारे। प्रातः ६ से ७ उपादान-निमित्त की चिट्ठी पर ८.३० से ९.३० समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार पर एवं रात्रि में ८ से ९ मोक्षमार्गप्रकाशक पर आपके मार्मिक प्रवचन हुए। समाज ने पूर्ण संख्या में उपस्थित होकर लाभ लिया तथा तत्त्वसंबंधी अनेक भ्रांतियाँ दूर कीं। **— ताराचंद जैन**

पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा द्वारा गाँवों में धर्मप्रभावना

दिनांक १४-१-७९ से २०-१-७९ तक गुना, अशोकनगर, पीरोठ, रामगढ़ आदि स्थानों पर आपके आध्यात्मिक प्रवचनों का समाज ने काफी लाभ लिया। प्रतिदिन तीन टाइम समयसार, मोक्षमार्गप्रकाशक पर प्रवचन तथा छहढाला पर शिक्षण चलता था। इसके बाद उज्जैन में दो दिन प्रवचनों का आकर्षक कार्यक्रम रहा, समाज ने पूर्ण लाभ लिया। समाज ने जगह-जगह छोटे-छोटे ग्रामों में शिविर लगाने की माँग भी की। **— माणिकलाल आर० गाँधी**

वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं एवं महाविद्यालय को पूज्य मुनिराजों का आशीर्वाद

भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति के निरीक्षक पंडित रमेशकुमारजी के महाराष्ट्र भ्रमण के दौरान पूज्य मुनिराजों से साक्षात्कार हुआ। उन्होंने पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट और उसके द्वारा संचालित गतिविधियों का परिचय प्राप्त कर, प्रसन्न होकर निम्न उद्‌गार व्यक्त किये :—

पूज्य वीरसागर महाराज ने कहा कि यह पाठशालाएँ सभी जगह खुलना चाहिये। इनके माध्यम से बच्चों को धार्मिक संस्कार मिलते हैं।

बाहुबली में पूज्य समंतभद्र महाराज एवं आर्यनंदी महाराज ने भी सभी पाठशालाओं को आशीर्वाद दिया तथा कहा कि जिस गाँव में २० बच्चे भी हों वहाँ पाठशाला खुलना चाहिये।

आर्यनंदी महाराज बोले कि हमने तो गाँव-गाँव में पाठशालाएँ खुलाने का प्रयास किया है तथा हमारा प्रयास चालू भी है। उन्होंने टोडरमल दिगंबर जैन सिद्धांत महाविद्यालय के सभी छात्रों को आशीर्वाद दिया और महाविद्यालय की काफी प्रशंसा और सराहना की और कहा कि सच्चा काम तो जयपुर महाविद्यालय कर रहा है। इसके बाद कुरुदवाड़ में पूज्य बाहुबली महाराज से मिला। उन्होंने भी आशीर्वाद दिया कि सभी जगह पाठशालाएँ खुलें तथा बच्चों को सदाचार संबंधी ज्ञान मिले। उन्होंने कहा कि सभी गाँवों में वीतराग-विज्ञान पाठशाला होना चाहिये। **— हेमचंद्र जैन 'चेन'**

अमृत महोत्सव संपन्न

श्री दिगंबर जैन आचार्य संस्कृत कालेज, जयपुर ने ९३ वर्ष पूर्ण करने के उपलक्ष्य में यह वर्ष अमृत महोत्सव के रूप में मनाया। इस अवसर पर १८ जनवरी, ७९ से २४ जनवरी,

७९ तक पंडित चैनसुखदास स्मृति सप्ताह आयोजित किया गया। जिसके अंतर्गत विभिन्न राज्यस्तरीय प्रतियोगिताएँ आयोजित की गईं। दिनांक २१-१-७९ से २३-१-७९ तक देश के प्रसिद्ध विद्वानों का एक सम्मेलन भी आयोजित किया गया—जिसकी प्रथम गोष्ठी का उद्घाटन मुनिश्री विद्यानंदजी के सान्निध्य में हुआ। इस गोष्ठी में डॉ० हुकमचंद भारिल्ल ने अपने नये निबंध 'क्रमबद्धपर्याय : एक अनुशीलन' का वाचन किया। २१ जनवरी को ही सभी विद्वान टोडरमल सिद्धांत महाविद्यालय के निरीक्षणार्थ पधारे तथा सभी ने इस योजना की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए पूज्य स्वामीजी के प्रति श्रद्धा व्यक्त की। विदित हो कि टोडरमल विश्वविद्यालय के छात्र दिगंबर जैन संस्कृत कालेज के माध्यम से ही राजस्थान विश्वविद्यालय की शास्त्री एवं आचार्य परीक्षा देते हैं। — **अभयकुमार जैन**

श्री टोडरमल महाविद्यालय में न्याय एवं सिद्धांत-ग्रंथों की कक्षाओं का विशेष आयोजन

जयपुर :- पंडित नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर न्यायतीर्थ, सोलापुरवाले पधारे। आपके द्वारा दिनांक १४-१-७९ से २८-१-७९ तक प्रतिदिन प्रातः, दोपहर एवं सायं तीनों समय परीक्षामुख, न्यायदीपिका, सर्वार्थसिद्धि एवं आप्तमीमांसा की कक्षायें आयोजित की गईं। छात्रों को विषय समझने में अपूर्व लाभ हुआ। सभी छात्रों ने पंडितजी को भावभीनी विदाई देते हुए पुनः पुनः पधारने का अनुरोध किया।

बड़वानी :- श्री रमेशचंदजी मलकापुरवाले ८-१-७९ को पधारे। आपके तत्त्वार्थसूत्र, मोक्षमार्गप्रकाशक आदि ग्रंथों पर सारगर्भित प्रवचन हुए। आपके प्रवचनों का लाभ लेने के लिये खंडवा, सनावद एवं आसपास के अनेक स्थानों से जिज्ञासुगण आये थे। आपके प्रवचनों से प्रभावित होकर अनेक भाइयों ने पूज्य स्वामीजी की वाणी सुनने हेतु सोनगढ़ शिविर में जाने की इच्छा व्यक्त की।

खनियाधाना :- समाज के आग्रह पर दिनांक १४-१-७९ को पंडित कैलाशचंदजी बुलंदशहरवाले पधारे। सुबह, दोपहर जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग १ से ७ तक की कक्षा लगी तथा रात्रि में आपके मार्मिक प्रवचन हुए। समाज तथा युवा-वर्ग में धर्मप्रभावना हुई।

- शिखरंचद जैन पुजारी

जावरा (म०प्र०) :- दिनांक २४-१२-७८ से ३१-१२-७८ तक यहाँ शिक्षण-शिविर का आयोजन किया गया। इस अवसर पर पंडित प्रहलादजी मंदसौर से तथा पंडित

केसरीमलजी बंडी इंदौर से पधारे। शिविर में बालबोध पाठमाला, जैन सिद्धांत प्रवेशिका तथा छहढाला पर कक्षायें लगायी गयीं तथा दोनों समय प्रवचनों का आयोजन भी किया गया। अच्छी धर्म प्रभावना हुई। **- बसंतीलाल मा० जैन**

मुंगावली :- पंडित कैलाशचंदजी बुलंदशहरवाले पधारे। उनके ३-१-७९ से १३-१-७९ तक प्रवचन हुए एवं कक्षाओं का आयोजन किया गया। समाज को बहुत लाभ मिला। **- देवेंद्रकुमार भारिल्ल**

नवीन वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की स्थापना

भारतवर्षीय वी० वि० पाठशाला समिति के निरीक्षक पंडित रमेशकुमारजी की प्रेरणा के फलस्वरूप महाराष्ट्र के कोल्हापुर, मुरुड और वार्शी—इन तीन नगरों में नवीन पाठशालाएँ खुली हैं। महाराष्ट्र तथा कर्नाटक प्रांत में चल रही पाठशालाओं के निरीक्षण कार्यक्रम के प्रसंग में पंडितजी ने इस क्षेत्र के गाँव-गाँव में जाकर संपर्क किया और पाठशालाओं के विविधत् संचालन होते अपने सुझाव दिये। **—मंत्री**

वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की निरीक्षण रिपोर्ट

महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रदेश में चल रही वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं के निरीक्षणार्थ समिति के निरीक्षक पंडित रमेशकुमारजी जैन ने २० दिसम्बर, १९७८ को महाराष्ट्र में प्रवेश किया। लगभग डेढ़ मास के इस प्रवास में उन्होंने महाराष्ट्र के परभणी, शोलापुर, उस्मानाबाद, सतारा, पूना, कोल्हापुर, सांगली तथा कर्नाटक के गुलबर्गा और बेलगाँव जिलों के विभिन्न गाँवों व नगरों में चल रही लगभग ३० पाठशालाओं का निरीक्षण किया—जिनमें कोल्हापुर जैन श्राविकाश्रम, हेर्ले, माणगाँव, कोगनोली, पेठबड़गाँव, कुंभोज-बाहुबली, जयसिंगपुर, शिरटी, कुरुदवाड़, सांगली, कसवासांगाँव, हुपरी, स्तवनिधि, बेलगाँव, बारामती, बालचंदनगर, फलटन, नातेपुते, मोहोल, सोलापुर अक्कलकोट, आलंद, मुरुड़, वार्शी, परभणी प्रमुख हैं। सभी जगह समाज ने आपके प्रवचनों का लाभ लिया। **— मंत्री**

अभिमत

*** श्री भरतचक्रवर्ती जैन शास्त्री, न्यायतीर्थ, मद्रास, प्रबंध संपादक 'आत्मधर्म (तमिल)'**

.....इसमें निश्चय और व्यवहार का सामंजस्य करके दशों धर्मों का वर्णन किया है, जिसकी आवश्यकता वर्तमान समाज के लिये बड़ी जरूरी थी। लेखक महाशय ने अपनी कृति में विस्तृत सरल लौकिक उदाहरणों द्वारा आबाल-गोपाल की शैली में वर्णन कर समाज के सामने एक अमूल्य निधि प्रदान की है, जिसकी प्रतीक्षा समाज लम्बे अरसे से कर रही थी। लौकिक उदाहरण प्रस्तुत कर जटिल विषयों को सरल बनाकर उत्कंठासहित पाठकों को साथ ले जाने का जो उपक्रम है, वह मुक्तकंठ से प्रशसंनीय है।

*** प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान श्री अगरचंदजी नाहटा, बीकानेर (राजस्थान)**

आत्मधर्म में जब से दशलक्षणों संबंधी भारिल्लजी की लेखमाला प्रकाशित होने लगी मैं रुचिपूर्वक उसे पढ़ता रहा। डॉ० भारिल्ल के मौलिक चिंतन से प्रभावित भी हुआ। उन्होंने धर्म के दशलक्षणों के संबंध में अपने विचार प्रगट किये हैं, अन्य कई बातें विचारोत्तेजक व मौलिक हैं। अब तक इन लक्षणों के संबंध में बहुत कुछ कहा व लिखा जाता रहा है, पर मौलिक चिंतन प्रस्तुत करना सबके वश की बात नहीं है। डॉ० भारिल्ल में जो प्रतिभा और सूझ-बूझ है, उसका प्रतिफलन इस विवेचन में प्रगट हुआ है। आशा है इससे प्रेरणा प्राप्त कर अन्यविद्वान भी नया चिंतन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। डॉ० भारिल्ल ने जो प्रश्न उपस्थित किये हैं, वे बहुत ही विचारणीय व मननीय हैं। धर्म और अध्यात्म के संबंध में उनका चिंतन और भी गहराई में जावे और वे मौलिक तथ्य प्रकाशित करते रहें, यही शुभकामना है। प्रस्तुत ग्रंथ का अधिकाधिक प्रचार वांछनीय है। प्रकाशन बहुत सुंदर हुआ है और मूल्य भी उचित रखा गया है।!

*** डॉ० नरेंद्र अग्रवाल, प्राध्यापक, राज० विश्वविद्यालय, जयपुर, संपादक 'जिनवाणी' (मासिक)**

डॉ० हुकमचंद भारिल्ल प्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता होने के साथ-साथ प्रबुद्ध विचारक, सरस कथाकार और सफल लेखक हैं। उनकी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'धर्म के दशलक्षण' एक उल्लेखनीय कृति है। इसमें उत्तमक्षमा-मार्दव आदि दशधर्मों का गूढ़ पर सरस, शास्त्रीय पर जीवंत, प्रेरक, विवेचन—विश्लेषण हुआ है। लेखक ने धर्म के इन लक्षणों को चित्तवृत्तियों के रूप में प्रस्तुत कर धर्म, मनोविज्ञान और साहित्य का सुंदर समन्वय किया है। लेखक शास्त्रीय संवेदन के धरातल से प्रेरित होकर अपनी बात अवश्य कहता है, पर वह उसकी रूढ़िवादिता व मतानुगतिकता से ऊपर

उठकर धर्म की प्रगतिशीलता एवं मनस्तत्त्वता को रेखांकित करता हुआ, उसे शाश्वत जीवनमूल्य के रूप में व्याख्यानित करता है। भारिल्लजी की यह दृष्टि पुस्तक को मूल्यवत्ता प्रदान करती है। हार्दिक बधाई!

***डॉ० राजेन्द्रकुमारजी बंसल, कार्मिक अधिकारी, ओ० पी० मिल्स, शहडोल (म०प्र०)**

.....लेखक ने आत्मकल्याण-परक पाठकों एवं सत्यान्वेषी जिज्ञासुओं के लिये सारगर्भित, उपयोगी एवं तलस्पर्शी सामग्री प्रस्तुत की है, जिसे पढ़कर पाठक के मन में अज्ञानतायुक्त परंपरागत धार्मिक क्रियाओं की नि:सारता स्वत: सहजरूप से प्रकट हो जाती है। लेखक चिंतनशील पाठक के हृदय को उद्वेलित करने में सफल रहा है।

प्रबंध संपादक की कलम से

कृपया निम्नलिखित सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें: —

(१) समाचार भेजनेवाले बंधुओं से निवेदन है कि वे आत्मधर्म में प्रकाशनार्थ समाचार प्रत्येक माह की २५ तारीख तक हमें अवश्य भेज दें। विलंब से प्राप्त समाचारों को चालू अंक में प्रकाशित करना संभव नहीं होगा।

(२) जिन बंधुओं ने 'धर्म के दशलक्षण' पुस्तक के आर्डर भेजे थे उन्हें उनके आर्डर अनुसार पुस्तकें भेज दी गई हैं। जिन्हें प्राप्त नहीं हुई हों वे लिखें कि उन्होंने कितनी प्रतियाँ मंगाई थीं ताकि उन्हें प्रतियाँ भेजी जा सकें।

श्री टोडरमल दिगंबर जैन सिद्धांत महाविद्यालय, जयपुर में विद्वद्स्वागत-समारोह

जयपुर :- दिनांक २१ जनवरी ७९ को डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्य की अध्यक्षता में टोडरमल स्मारक भवन में महाविद्यालय के छात्रों द्वारा विद्वद्स्वागत-समारोह का आयोजन किया गया, जिसमें लगभग २३ विद्वान पधारे। श्री हीरालालजी भावनगरवालों की ओर से सभी विद्वानों को धार्मिक-साहित्य भेंट किया गया। विद्वानों ने आशीर्वादरूप वचनों से विद्यार्थियों को कृतार्थ किया। डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल ने सारे विद्वानों और विद्यार्थियों का परिचय कराया। श्री नेमीचंदजी पाटनी ने महाविद्यालय की गतिविधियों का परिचय दिया।

समागत विद्वानों में—डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, पंडित हीरालालजी 'कौशल' दिल्ली, डॉ० हरीन्द्रभूषणजी उज्जैन, पंडित सत्यंधरकुमारजी सेठी उज्जैन, डॉ० लक्ष्मीचंदजी जावरा, डॉ० गोकुलचंदजी वाराणसी, डॉ० प्रेमसुमनजी उदयपुर, डॉ० सुखनंदजी बड़ौत, डॉ० गोकुलप्रसादजी दिल्ली, पंडित डाह्याभाई कापड़िया सूरत, पंडित बलभद्रजी आगरा, पंडित नरेन्द्रकुमारजी भीसीकर सोलापुर, पंडित भंवरलालजी न्यायतीर्थ जयपुर, डॉं० कस्तूरचंदजी कासलीवाल जयपुर, पंडित बंशीधरजी एम०ए० जयपुर, पंडित अनूपचंद्रजी न्यायतीर्थ जयपुर, पंडित मिलापचंदजी जयपुर, डॉ० ताराचंदजी बक्षी जयपुर आदि विद्वान थे।

डॉ० पन्नालालजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा—"मेरे पास पंडित कैलाशचंद्रजी वाराणसी का पत्र आया था। उसमें उन्होंने लिखा था कि समाज की आकांक्षा पूर्ण करनेवाले टोडरमल महाविद्यालय के ये विद्यार्थी होंगे जिनसे उत्तरप्रांतीय पाठशालाओं में अध्यापकों की पूर्ति हो सकेगी।" डॉ० साहब ने महाविद्यालय के उज्ज्वल भविष्य के लिये अपनी हार्दिक शुभकामनायें प्रस्तुत कीं।

डॉ० हरीन्द्रभूषण ने कहा—"टोडरमल महाविद्यालय के ये सब विद्यार्थी अपने आत्महित के अतिरिक्त समाज के भी बहुत काम आयेंगे। इन सब के चेहरों पर तेज है, प्रसन्नता है। ये धर्म के क्षेत्र में शीघ्र वृद्धि करें, यही मेरी भावना है।"

पंडित सत्यंधरकुमारजी सेठी ने कहा—"भारतवर्ष में दिगंबर जैन समाज की यदि कोई सही रूप से आदर्श संस्था हो सकती है, तो वह है टोडरमल दिगंबर जैन सिद्धांत महाविद्यालय।

पूज्य कानजीस्वामी के नेतृत्व में जो यह प्रबल ज्ञान-गंगा प्रवाहित हो रही है, यह दिगंबर जैन समाज के लिये गौरव की बात है। इस टोडरमल महाविद्यालय पर मुझे बड़ा गर्व है।''

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त २३ जनवरी को पंडित नरेन्द्रप्रकाशजी फिरोजाबाद, डॉ० नेमीचंद्रजी इंदौर, डॉ० भागचंदजी दमोह, पंडित मूलचंद्रजी शास्त्री श्री महावीरजी, विद्यालय के निरीक्षणार्थ पधारे। स्वागत एवं साहित्य भेंट के पश्चात् उन्होंने निम्नानुसार उद्‌गार व्यक्त किये :—

पंडित नरेंद्रप्रकाशजी ने कहा—''टोडरमल महाविद्यालय के विद्यार्थियों में और अन्य विद्यार्थियों में बहुत बड़ा अंतर यह है कि अन्य विद्यार्थी खानापूर्ति के लिये पढ़ते हैं और ये विद्यार्थी आत्महित और धर्मप्रचार के लिये पढ़ते हैं।''

डॉ० नेमीचंद्रजी ने कहा—''यह संस्था पूर्ण चिंतक संस्था है। मैं श्री कानजीस्वामी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखता हूँ। वे एक विचारक हैं। उन्होंने एक बहुत बड़ा कार्य तो यह किया है कि स्वाध्याय करने की परंपरा चलायी है। उनका यह कार्य केवल हिंदुस्तान के लिये ही नहीं, किंतु विश्व के लिये मंगलरूप कार्य है।''

डॉ० भागचंद्रजी ने हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—''यहाँ की व्यवस्था को देखकर, यहाँ के विद्यार्थियों से मिलकर मैंने अपनी परिकल्पना को साकार पाया। मुझे ऐसा अनुभव होता है कि समाज में जितनी शिक्षण संस्थायें हैं, उन्हें पुनर्गठन एवं सुनियोजित करने की आवश्यकता है। उनके विकास में यह आदर्श महाविद्यालय सहायकरूप हो सकता है।''

पंडित मूलचंद्रजी ने कहा—''मैं टोडरमल महाविद्यालय में न्याय, साहित्य एवं व्याकरण विषय को पढ़ाने अवश्य आऊँगा।''

डॉ० प्रेमसुमन, उदयपुर ने विश्वविद्यालयों में जैनदर्शन के विद्यार्थियों के अभाव के संदर्भ में कहा कि—''देश की संपूर्ण संस्थाओं को टोडरमल महाविद्यालय से शिक्षा लेनी चाहिये और देश से ६ विद्यार्थी छांटकर उन्हें सारी सुविधायें देकर अपने विषय का विशेषज्ञ बनाकर कुशल कार्यकर्ता तैयार करना चाहिये।''

अन्य विद्वानों ने भी इसीप्रकार से उद्‌गार व्यक्त किये। सारे विद्वान विद्यार्थियों के आवास-स्थान, भोजनालय आदि का निरीक्षण करने गये और सारी व्यवस्था देखकर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की।

— ब्रह्मचारी जतीशभाई

Registration. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन *

मोक्षशास्त्र	१२-००
समयसार	१२-००
समयसार पद्यानुवाद	०-७०
समयसार कलश टीका	६-००
प्रवचनसार	१२-००
पंचास्तिकाय	७-५०
नियमसार	५-५०
नियमसार पद्यानुवाद	०-४०
अष्टपाहुड़	१०-००
समयसार नाटक	७-५०
समयसार प्रवचन भाग १	६-००
समयसार प्रवचन भाग २	प्रेस में
समयसार प्रवचन भाग ३	५-००
समयसार प्रवचन भाग ४	७-००
आत्मावलोकन	३-००
श्रावकधर्म प्रकाश	३-५०
द्रव्यसंग्रह	१-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-४०
प्रवचन परमागम	२-५०
धर्म की क्रिया	२-००
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०
तत्त्वज्ञान तरंगिणी	५-००
अलिंग-ग्रहण प्रवचन	१-६०
वीतराग-विज्ञान भाग ३ (छहढाला पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)	१-००
बालपोथी भाग १	०-६०
बालपोथी भाग २	प्रेस में
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
बालबोध पाठमाला भाग ३	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-२५
जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३०-००
मोक्षमार्गप्रकाशक	प्रेस में

पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व		१०-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ		५-००
" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)		२-००
मैं कौन हूँ?		१-००
तीर्थंकर भगवान महावीर		०-४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर		०-२५
अपने को पहचानिए		०-५०
अर्चना (पूजा संग्रह)		०-४०
मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)		०-५०
पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य		०-६५
कविवर बनारसीदास : जीवन और साहित्य		०-३०
सत्तास्वरूप		१-७०
सुंदरलेख बालबोध पाठमाला भाग १		प्रेस में
अनेकांत और स्याद्वाद		०-३५
युगपुरुष श्री कानजीस्वामी		१-००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका		३-००
सत्य की खोज (भाग १)		२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय	साधारण :	२-००
	सजिल्द :	३-००
धर्म के दशलक्षण	साधारण :	४-००
	सजिल्द :	५-००

Licence No.
P. P. 16-S.S.P. Jaipur City Dn.
Licensed to Post
Without Pre-Payment

If undelivered please return to :
प्रबन्ध-संपादक, आत्मधर्म
ए-४, टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर
जयपुर ३०२००४